

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

अष्टम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र के सूत्र 14 से सूत्र 20 तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9424414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायीर्थं पूज्यं श्री मनोहरजी वर्णीं ‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥
 अहिंसा परमोर्धर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥२॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
सूत्र 14.....	5
सूत्र 15.....	12
सूत्र 16.....	28
सूत्र 17.....	43
सूत्र 18.....	44
सूत्र 19.....	48
सूत्र 20.....	60

मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम भाग

चौदहवें सूत्र का प्रकरण प्राप्ति सम्बन्ध—मोक्षशास्त्र में मोक्षमार्ग का प्रधान प्रयोजन है। मोक्षमार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता। सम्यग्दर्शन नाम है प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना। जो अभ्यास द्वारा समझाये जाने द्वारा साध्य है उसकी बात कही जा रही है। सम्यग्दर्शन होता है निसर्ग से और अधिगम से तो अधिगम के उपायों का इस अध्याय में वर्णन है। पदार्थ का जानना किन-किन उपायों से होता है? यह बात इस अध्याय में बतायी जा रही है। अधिगम होता है प्रमाण और नयों के द्वारा। यद्यपि व्यवहार और अधिगम के अनेक और भी कारण बताये गए, जैसे निष्केप, निर्देश आदिक फिर भी मुख्य यह ही है प्रमाण और नय, उनमें से प्रमाण का वर्णन चल रहा है। प्रमाण ज्ञान का नाम है और वे ज्ञान ५ हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये सब ज्ञान दो प्रमाणरूप हैं—परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण। तो इन ५ ज्ञानों में आदि के दो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं, शेष ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। परोक्षज्ञानों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहे गए, उनमें से मतिज्ञान का यह सब प्रसंग चल रहा है। मतिज्ञान ५ जाति के होते हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान। इनका वर्णन पिछले सूत्र में किया गया है। अब इस सूत्र में यह बताया जा रहा है कि वह मतिज्ञान किन किन कारणों से उत्पन्न होता है?

सूत्र 14

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

मतिज्ञान के बाह्यनिमित्तों के विषय में विवाद मिटाने के लिये इस सूत्र का अवतार—वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न होता है, तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन ५ इन्द्रियों का कारण पाकर और मन का कारण पाकर मतिज्ञान उत्पन्न होता है। यहां शङ्खाकार कहता है कि मतिज्ञान तो एक आन्तरिक ज्ञान है और उसका निमित्त है मतिज्ञानावरणकर्म का और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम, सो बात प्रसिद्ध ही है। मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम सभी ज्ञानों में पाया जाता है। अथवा अनुमान तर्क आदिक ज्ञान ऐसे हैं मतिज्ञान की जाति में कि जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न नहीं होते। जैसे अनुमान होता है साधन से, साध्य का ज्ञानरूप अनुमान है वह हेतु से उत्पन्न हुआ, हेतु के ज्ञान से हुआ और अनुमान तर्कपूर्वक होता है। तर्क प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता, प्रत्यभिज्ञान स्मरणपूर्वक होता, स्मरण मतिपूर्वक होता, मति दर्शनपूर्वक होता तो आखिर रह क्या गया और साक्षात की बात तो यह है कि इन्द्रिय और मन से दर्शन से होगा तो इन सब बातों के ऐसा विदित होता है कि यह सूत्र व्यर्थ कहा गया। तो पहली बात देखो कि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता सो सभी मतिज्ञानों में यह बात है, सो सूत्र का कहना व्यर्थ है और मतिज्ञान के सब भेदों का निमित्त इन्द्रिय मन नहीं है, इस कारण भी व्यर्थ है, फिर इस सूत्र के कहने का प्रयोजन क्या है? समाधान में कहते हैं कि यह सूत्र मतिज्ञान के बाह्य निमित्तों का प्रदर्शन करने के लिए कहा गया है अर्थात् मतिज्ञान बाह्य निमित्त क्या होते हैं यह बताया है, क्योंकि अनेक दार्शनिक ज्ञान के बाह्य निमित्तों पर विवाद रख रहे हैं। कोई कहते हैं कि योगि का प्रत्यक्ष भी, भगवान का प्रत्यक्ष भी मन से होता है। कोई कहता है कि ज्ञान इन्द्रिय की वृत्ति

से उत्पन्न होते हैं, ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होता है तो ज्ञान की उत्पत्ति के साधनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के मंतव्य हैं लोगों के, इसलिए उसमें विवाद होता है। उस विवाद का समाधान इस सूत्र में किया गया है। क्या किया गया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से ही होता? पदार्थ से, प्रकाश से या अन्य प्रकार से नहीं होता। साथ ही यह भी ध्वनित हो जाता है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से मतिज्ञान ही होता है। इसमें अनेक दार्शनिक जो भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण मानते थे उनका निराकरण है। कोई प्रकाश को कारण मानता, कोई पदार्थ को कारण मानता, कोई इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध को कारण मानता, ऐसे अनेक विवादों का समाधान इस सूत्र में किया गया है।

सूत्र में मतिमान की इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तता का वर्णन—इस सूत्र में दो पद है—तत् इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तं, वह इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है। तो यहाँ तत् शब्द से क्या माना गया है? तत् शब्द से किसका ग्रहण किया गया है? इन्द्रिय और मन के निमित्त से क्या होता है? तो उत्तर यह है कि इस सूत्र से पहले जो शब्द आया हो वह तत् शब्द से ग्रहण में आयेगा। इससे पहले सूत्र है—मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरं, अर्थात् यहाँ अनर्थान्तर शब्द है अगले सूत्र से पहले। तो तत् शब्द से अनर्थान्तर शब्द का ग्रहण हुआ अर्थात् मतिज्ञान जो इस अनर्थान्तर रूप है, जो मति स्मृति आदिक रूप है, वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है। अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि इससे पहले सूत्र में तो इन मति आदिक पाँचों ज्ञानों को समुच्चय करने वाला मतिज्ञान शब्द तो दिया ही नहीं गया। इसमें तो ५ मतिज्ञान विशेष कहे गए हैं तो उनका ही ग्रहण होगा। उस सामान्य मतिज्ञान का ग्रहण कैसे किया जा सकता? और फिर उन पाँचों में भी एक मति ही प्रधान है और लोगों के अनुभव में भी ऐसा ही आता है कि जो सांख्यव्याख्यातिक प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है तो यहाँ तत् शब्द से उस मति विशेष का ग्रहण होगा।

इसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा नहीं, किन्तु इस सूत्र से पहले जो शब्द दिया हो वह शब्द ही तत् शब्द से ग्रहण में आयेगा। वह शब्द है अनर्थान्तर। और यों तो परम्परया लगाते जावो तो मतिज्ञान के ५ भेदों में जो अन्त में कहा गया आभिनिबोध अनुमान सो उसका ग्रहण होगा। यदि अनर्थान्तर के ग्रहण को गौण कर दिया जाये और उन विशेषों को लिया जाये तो सबसे अच्छा ग्रहण तो अनुमान का होगा और अनुमान के निकट है तर्क, सो तर्क का ज्ञान होगा आदिक भिन्न बातें आयेंगी। तो उसका भी समाधान यों करना चाहिए कि आता है तो आने दो या ऐसा ही क्यों सोचे? अनर्थान्तर शब्द से तो सभी का ग्रहण हो जाता है। सो चाहे मतिज्ञान सामान्य कहो, चाहे समस्त मति विशेष कहो, वह सब तत् शब्द से ग्रहण में आता है। इस प्रकार इस मतिज्ञान के बहिरङ्ग निमित्त कारणों को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। क्या है मतिज्ञान का वह बहिरङ्ग कारण, सो सुनो—इन्द्रिय और मन उसका निमित्त कारण है। अब इन्द्रिय क्या और मन क्या? इन्द्रियां होती हैं दो प्रकार की—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय। जो पौद्गलिक दृष्टि के हैं वे द्रव्येन्द्रिय और क्षयोपशमलव्यिरूप है वह है भावेन्द्रिय। इसी तरह मन इन सबका वर्णन आगे दूसरे अध्याय में आयेगा। वे सब मतिज्ञान के निमित्त कारण हैं।

मतिज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रिय व मन की कारकरूप कारणता—अब यहाँ शंका होती है कि इन्द्रिय और मन क्या मतिज्ञान के कारक कारण हैं या ज्ञायक कारण है ? कारक कारण तो उसे कहते हैं जो उत्पन्न करने में साधन बना हो, और ज्ञायक कारण उन्हें कहते हैं जो पदार्थों का ज्ञान कराते हों। तो इन दोनों कारणों में से ये इन्द्रिय मन क्या मतिज्ञान के कारक कारण हैं या ज्ञायक? उत्तर इस प्रकार है कि यह कारक कारण है। जहाँ निमित्त शब्द दिया जा रहा हो, जहाँ निमित्त कारण कहा जा रहा हो उसका अर्थ कारक कारण है, ज्ञायक कारण नहीं है अर्थात् यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है। अब ये पांचों ही मतिज्ञान विशेष इन्द्रिय और मन के निमित्त से होते हैं। इसका योगविभाग करके अर्थ लगे तो सभी इष्ट विशेषों में इन्द्रिय और मन निमित्त बनते हैं। अब परम्परया आश्रय करके देखो तो योगविभाग न भी करें तो स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, स्मृति, तर्क आदिक सभी में इन्द्रिय और मन का निमित्तपना घटता है। यहाँ कारण ज्ञायकरूप नहीं माना गया, क्योंकि ज्ञायकहेतु बताने का यहाँ प्रकरण नहीं है। जो ज्ञायक ज्ञान है वह स्वयं कारकों से बनाया जा रहा है। इसलिए वह कारकहेतु है। इस सूत्र का तब शुद्ध अर्थ यह हुआ कि इन्द्रिय और मन है निमित्त जिसका ऐसा वह मतिज्ञान है। चाहे कोई साक्षात् कारण हौ, चाहे कुछ परम्परया कारण हो तथा मन का उपयोग तो सभी में है, इस कारण ये सब इन्द्रिय और मन के निमित्तपूर्वक कहे जाते हैं। देखा मति के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सो अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त सभी मतिज्ञान के निमित्त कारण इन्द्रिय और मन हो रहे हो। इसी प्रकार स्मृति आदिक भी अपने ही निमित्त कारण इन्द्रिय और मन से बन रहे हैं। कहीं इन्द्रिय परम्परा से निमित्त कारण है, कहीं साक्षात् है और सामान्यरूप से निमित्त कारणों का विचार किया जाये तो ये सभी मतिज्ञान के कारणरूप होते हैं।

सूत्र के दोनों पदों में अवधारण का तथ्य—अब यहाँ एक शङ्का और की जा रही है कि यहाँ पद हैं दो—तत्‌इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तो इसमें अवधारण कहा करे याने एवकार कहाँ लगाना चाहिए? तत् एव इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं, ऐसा कहना चाहिए या तत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं एव, ऐसा कहना चाहिए? याने 'एवं' शब्द कहाँ लगाना चाहिए? कहाँ हुआ? समाधान यह है कि एवकार से अवधारण दोनों जगह किया जाता है। जिससे अर्थ यह बनता है कि मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है। दूसरा अर्थ मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय का निमित्त पाकर ही होता है। इन दोनों अवधारणों से अनेक रहस्य प्रकट होते हैं। इन्द्रिय, मन, दोनों का उभय का, युक्त का निमित्त पाकर मतिज्ञान ही होता है, अन्य ज्ञान नहीं। एक अवधारण तो यह हुआ। दूसरा अवधारण है मतिज्ञान, इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर ही होता है। उसका अन्य कारण नहीं है। इन दोनों प्रकार के अवधारणों में यदि किसी एक को न माना जाये तो क्या दोष आता है? यदि तत् में एव न लगायें तो उसका अर्थ बन जाता है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से मतिज्ञान तो होता ही है और भी ज्ञान हो जाते हैं। योगियों का प्रत्यक्ष या सभी प्रकार के ज्ञान, ऐसा अनिष्ट प्रसंग होता है तथा दूसरी जगह अवधारण न लगाया जाये तो उसका अर्थ यह बनेगा कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है सो ठीक है, अन्य निमित्तों से भी होता होगा। सो अवधारण करने से सभी अनिष्ट प्रसंग दूर हो जाते

हैं। इसका स्पष्ट विवरण यह है कि ऐसा कहने से कि मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। इससे तो यह बात बनी कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से मतिज्ञान ही होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान या कुज्ञान—ये नहीं होते और जब यहाँ अवधारण लगाया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से ही होते हैं तो जो लोग अर्थ से प्रकाश से उत्पन्न होना मानते हैं, ज्ञान को उसका निराकरण हो जाता है।

पदार्थ के ज्ञानकारणत्व की मीमांसा—अब यहाँ शङ्काकार क्षणिकवादी कहते हैं कि ज्ञान तो अनुमान से ऐसा ही सिद्ध होता है कि वह पदार्थ से उत्पन्न होता है, पदार्थ से न उत्पन्न हुआ ज्ञान नहीं होता। तो जब प्रत्येक ज्ञान पदार्थ से ही उत्पन्न होते हैं तब फिर इन्द्रिय और मन से ही होते हैं पदार्थ, अर्थ आदि से नहीं होते हैं, ऐसा निर्णय बनाने के लिए जो सूत्र कहा यह तो युक्तिसंगत न रहा। अनुमान से सिद्ध है कि पदार्थ अपने से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा सम्वेद्य है क्योंकि प्रमेय होने से। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ से ज्ञान हुआ और इस ही ज्ञान से अर्थ जाना गया तो ज्ञान से जो अर्थ जाना गया वह ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न हुआ है, जैसे कि मन। मन और इन्द्रियजनित अनुमान के द्वारा मन और इन्द्रिय जाने जाते हैं अथवा जैसे जैनसिद्धान्त में बताया है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञान के द्वारा क्षयोपशम जाना जाता है। इस तरह ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है इसलिए यह निश्चय न बनाना चाहिए कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से ही होता है। समाधान में कहते हैं कि इस तरह की व्याप्ति बनाने से तो अनेक प्रसंग आते हैं।

जैसे सर्वज्ञदेव जितना जान रहे हैं क्या वह सब अर्थों से निकालकर जान रहे हैं? भूत, भविष्यत् पर्यायें जो हैं ही नहीं, उनका कैसे ज्ञान होगा? और जान रहे हैं सबको, भूत को, भविष्य को भी। अथवा जो स्वसम्वेदन ज्ञान बन रहा है अपने ही ज्ञान के द्वारा अपना ही सम्वेदन किया जा रहा है तो उसके तो क्षण समान हैं, उसी क्षण में संवेदन है, उसी क्षण में स्व हैं जिसका कि सम्वेदन किया जा रहा है। तो कार्यकारण भाव समान क्षण में तो नहीं होते। जैसे किसी बछड़े के दोनों सींग समान समय में हैं तो उनमें किसी को कार्य और किसी को कारण तो नहीं कहा जा सकता? और भी देखो संशयज्ञान उत्पन्न होता है या विपरीत ज्ञान होता है या कभी आंख से दो चन्द्रमा दिखने लगते हैं तो न दो चन्द्र हैं और न विपर्ययज्ञान का विषयभूत पदार्थ है और ज्ञान तो उत्पन्न हो गया। तो यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान पदार्थ से ही उत्पन्न होता है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि विपर्ययज्ञान में तो ज्ञान की बात यों नहीं कह सकते कि वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। हमारा तो यह अनुमान बनेगा कि प्रत्यक्षज्ञान अपने विषयभूत पदार्थ से जन्य है, सम्यग्ज्ञान होने से तो विपर्ययज्ञान तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, इसलिए अनुमान में दोष नहीं आता। इसका समाधान यह है कि जो दूसरा अनुमान दिया, जिससे कि विपर्ययज्ञान में दोष न आये उसमें भी दोष है। सर्वज्ञ का ज्ञान भूतकाल और भविष्यकाल के सब अर्थों को जानता है, मगर वह पदार्थ वर्तमान है ही नहीं तो उनसे ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकेगा?

अर्थ और प्रकाश में आलम्बनरूपकारणता का अभाव—शंकाकार कहता है कि इस तरह तो चाक्षुषज्ञान में आलोक भी कारण न बन सकेगा। चाक्षुषज्ञान प्रकाश से जन्य है, प्रकाश न हो तो चक्षु से ज्ञान तो नहीं होता। तो यहाँ दोष मिटाने के लिए यदि यह कहे कोई कि एक प्रकाश को कारण रहने दो, क्योंकि प्रकाश बिना ज्ञान नहीं होता। तो यही बात तो पदार्थों में लग जायेगी। पदार्थों से भी उत्पन्न हुआ ज्ञान मान लो, क्योंकि

हम लोगों का ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होता है। यहाँ इसी विषय पर यह भी विचार कर लेना चाहिए शंकाकार को कि जैसे वह कह रहा है कि हम हेतु मैं सुधार कर रहे हैं, ज्ञान की जगह सम्यग्ज्ञान कह देंगे और उसमें दोष आता है तो अस्मदादि शब्द और जोड़ देंगे याने हम लोगों का सम्यग्ज्ञान होता है। तो ऐसे दो विशेषण और लगाने से न तो विपर्ययज्ञान के साथ व्यभिचार होगा और न सर्वज्ञान के साथ व्यभिचार होगा।

अब उन सब शंकाओं का समाधान करते हैं कि मतिज्ञान का निमित्त आलोक भी माना जाये तो अलोक आलम्बनरूप से कारण नहीं है। हाँ, चक्षुइन्द्रिय को बल प्राप्त करा देता है आलोक, उसका इतना ही सहारा है, और इस सहारे की दृष्टि से जैसे आलोक को कारण मानते हो, ऐसे ही काल और आकाश आदिक भी निमित्त माना जा सकता है, और इसी प्रकार ज्ञान को भी अर्थनिमित्तक माना जा सकता हैं पर वह आलम्बनरूप नहीं है। जैसे कोई वृद्ध पुरुष लाठी लेकर चलता है तो जैसे लाठी में वृद्ध का आलम्बनरूप है, इसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञेय पदार्थ आलम्बनरूप नहीं है। वे ज्ञान की प्राप्ति में कुछ मदद नहीं कर रहे, किन्तु ज्ञान का नेत्र के साथ विषयविषयी भाव सम्बंध है। न तो कार्यकारण सम्बंध है और न आधार-आधेय भाव सम्बंध है।

अब अनुमान जो शंकाकार ने किया था उस पर विचार करें। हम आदि लौकिक जनों को सत्य ज्ञान होता है, यह हेतु दिया था। तो उसमें चाक्षुष प्रत्यक्ष का आलोक निमित्त है, काल निमित्त है, आकाश, आदिक निमित्त हैं, मगर यह केवल एक बाह्य निमित्तमात्र है। क्या तुम ऐसा समझकर कहते हो या आलोक को चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान का आलम्बनरूप कारण समझते हो? अगर मात्र निमित्त समझते हैं बाह्य तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं है। अनेक बाह्य निमित्त रहा करते हैं। ज्ञान में काल भी उदासीन निमित्त है, आकाश आदिक भी उदासीन निमित्त हैं। हाँ दूसरी बात अगर मानी याने आलोक चाक्षुषज्ञान का आलम्बन रूप कारण है तो यह विरुद्ध बात है। अगर चाक्षुष ज्ञान का आलंबन कारण हो प्रकाश तो बिली, व्याघ्र आदिक जीवों को चाक्षुषज्ञान होता है उसमें तो प्रकाश की जरूरत नहीं पड़ती। तो पदार्थ और आलोक—इन जनों का एक उदासीन कारण भले ही कह दो, किन्तु ये ज्ञान के आलंबन कारण नहीं कहलाते, ज्ञान का कारण तो अंतरंग है, ज्ञानावरण का क्षयोपशम आदिक और बाह्य कारण है इन्द्रिय आदिक और भीतरी कारण याने कारण को कुछ बात उत्पन्न करने वाले, बल भी उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जिसकी उपस्थिति में ज्ञान के निमित्तभूत इन्द्रियाँ प्रवर्त हो सकें वह भी एक कारण कहा जा सकता, किन्तु आलंबन कारण उनमें से कुछ भी नहीं कहलाता। ज्ञान का पदार्थों के साथ केवल विषयविषयी भाव सम्बंध है।

मतिज्ञान में पदार्थ की उत्पादककारणता की असिद्धि एवं विषयभूतता की सिद्धि—पदार्थ को जो ज्ञान का कारण मानते हैं वे यह बतायें कि जिस समय क्षणिक पदार्थ ज्ञान का जनक बन रहा है उस समय तो आलम्बन है नहीं और जब नष्ट हो चुका तो आलम्बन बने कौन? उनमें जब वह जनक नहीं। तात्पर्य यह है कि क्षणिकवादी लोग ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ एक क्षण को ही ठहरता है और वह पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करता है। अब ज्ञान को उत्पन्न ही कर ले, यह भी बड़ी गर्नीमत है। प्रथम तो पदार्थ जब है तब वह ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकता? और कदाचित् मान भी लें तो उत्पन्न हुए बाद ही तो आलम्बन की बात सोची जाये

तो जब पदार्थ कहलाता नहीं तो ऐसी विडम्बना बनेगी कि उत्पत्ति तो की किसी पदार्थ ने और आलम्बन बना और कोई पदार्थ । इससे पदार्थ तो विषयमात्र है, वह ज्ञान का जनक नहीं है । ज्ञान का कारण तो ज्ञानावरण की क्षयोपशम आदिक ही हैं ।

यहां शंकाकार कहते हैं कि पदार्थ तो ज्ञान का अनिवार्य कारण है । जैसे प्रकाश्य पदार्थ के अभाव में प्रकाशक सूर्य आदि के प्रकाशकपना नहीं बनता है, सो अर्थ उस प्रकाशक का जनक है, ऐसे ही अर्थ के अभाव में ज्ञान नहीं बनता सो अर्थ ज्ञान का जनक है । यह शंका संगत नहीं है । यों तो यह भी कह सकते हैं कि प्रकाशक के अभाव में हम किसी को प्रकाश्य भी नहीं कह सकते, सो प्रकाशक प्रकाश्य का जनक हो जावे, ज्ञान के अभाव में अर्थ ज्ञेय नहीं होता, सो ज्ञान अर्थ का जनक हो जावे । यदि शंकाकर यह कहें कि प्रकाशक (सूर्य आदि) व प्रकाश्य (घट-पट आदि) तो अपने-अपने स्वरूप से उत्पन्न हैं उनमें प्रकाशकपना और प्रकाश्यपना सापेक्ष है तो यहीं उत्तर यहां दे लो कि पदार्थ और ज्ञान तो अपने-अपने स्वरूप से उत्पन्न है, उनमें ज्ञातापने व ज्ञेयपन परस्पर सापेक्ष हैं ।

इसका सारांश यह हुआ कि जैसे गुरु शिष्य का जनक नहीं, शिष्य गुरु का जनक नहीं वे दोनों पुरुष अपने-अपने कारण से उत्पन्न है, फिर भी उनमें परस्परोपग्रह होने से गुरु शिष्यत्व का व्यवहार है । ऐसे ही अर्थ ज्ञान का जनक नहीं, ज्ञान अर्थ का जनक नहीं, वे सब तो अपने-अपने कारण से निष्पन्न हैं, किन्तु उनमें ज्ञाता ज्ञेय का व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । यहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थ (पदार्थ) अपना आकार भी ज्ञान को सौंप देता है, इस कारण पदार्थ ज्ञान का जनक है, क्यों नहीं यह युक्त है? यों नहीं कि शङ्खाकार के सिद्धान्त से प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञान में अपना आकार सौंप देता है तभी द्वितीय ज्ञान से पदार्थ का निर्णय होता । प्रथम ज्ञान तो निर्विकल्प है, अनिर्णायक हैं । तो यहाँ प्रथम ज्ञान ने द्वितीय ज्ञान को आकार सौंप दिया, इससे ज्ञान को भी ज्ञान का जनक मानना पड़ेगा । इन सब दोषों के निवारणार्थ यह मान लो कि पदार्थ विषयभूत मात्र है वह ज्ञान का उत्पादक कारण नहीं । हां मतिज्ञान छद्मस्थ जीव का है वह निरावरण नहीं व प्रत्यक्ष भी नहीं, सो उस ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय व मन को निमित्त करके होती है । यह इस सूत्र का भाव है ।

ज्ञान के अर्थजन्यत्व का अभाव—ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, इस प्रकरण को यों समझना चाहिए कि केवलज्ञान तो स्वयं उत्पन्न होता रहता है । पहली बार के केवलज्ञान का निमित्त कारण तो ज्ञानावरण का क्षय है । उसके बाद केवलज्ञान निरन्तर मात्र कालद्रव्य को निमित्त पाकर होता ही रहता है । उससे पहले जितने भी ज्ञान हैं वे सब उस-उस ज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से होते हैं । यहाँ मतिज्ञान का प्रसंग चल रहा है । मतिज्ञान मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है । उसमें पदार्थ विषय पड़ता है, अर्थात् क्या जाना, किसे जाना, जानने में क्या आया? यों पदार्थ विषयमात्र है, परन्तु पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं है । यदि पदार्थ ज्ञान का कारण बने तो स्वसम्बेदन ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है । स्वसम्बेदन में केवल स्व का ही सम्बेदन है, पदार्थ का सम्बेदन तो नहीं हैं और कोई कहे कि स्वसम्बेदन में एक निज स्व ही कारण बन जाये सो वहाँ कारण का कोई मतलब नहीं । वह है और संवेदन हो रहा है, अकारण हो रहा है । यो कहना चाहिए, और माना है शंकाकार ने स्वयं में ‘नैकं स्वस्मात् प्रजायते’ यह खुद एक अपने आपसे उत्पन्न

नहीं होता, तो इस कारण ज्ञान अर्थजन्य है, इस सिद्धान्त में अनेक दोष आते हैं। ज्ञान अर्थजन्य है तो सर्वज्ञ का ज्ञान बन ही नहीं सकता, क्योंकि भूत भविष्य के अर्थ विद्यमान तो हैं नहीं, जिससे कि वे ज्ञान के कारण बन सके। और जो नहीं है वह कारण बनता नहीं। तो सर्वज्ञज्ञान की भी सिद्धि न हो सकेगी। इस कारण यह ही निर्णय रखना योग्य है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अलग-अलग ज्ञानों की अलग-अलग बात हैं। सम्यक्, मतिज्ञान मत्यावरण के क्षयोपशम से होता, अन्य ज्ञान उन ही के आवरण के क्षयोपशम से होता। मतिज्ञान में तो इन्द्रिय और मन कारण पड़ते हैं, सम्यक् श्रुतज्ञान में मन कारण है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञानों में इन्द्रिय, मन दोनों ही कारण नहीं हैं। तो ज्ञान का वह कारण बताना चाहिए जैसा कि सभी ज्ञानों में अपनी-अपनी जगह घटित हो जाये। कोई कहे कि स्वसम्वेदन ज्ञान होता ही नहीं तो उनका कहना असंगत है। स्वसम्वेदन हुए बिना ज्ञान पर को भी नहीं जान सकता और फिर आत्मा का स्वसम्वेदन तो एक अनुभूति की चीज है। ज्ञान का स्वसम्वेदन और अध्यात्मस्वसंवेदन दोनों का अर्थ थोड़ा जुदा-जुदा है। ज्ञान का स्वसम्वेदन का अर्थ है कि जो ज्ञान परपदार्थ का जाननहार है वह ज्ञान स्व का भी निर्णय रखता है? और पर का निर्णय रखता है। तो स्व का निर्णय न हो तो पर का निर्णय नहीं हो सकता। जैसे कोई ज्ञान अपने बारे में तो संशय रखे कि यह ज्ञान सही है या नहीं और उस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ में निश्चय रखे, ऐसा नहीं हो सकता। जिस ज्ञान में खुद अपने आपमें निश्चय पड़ा है वही ज्ञान परपदार्थ का निश्चायक होता है और यह तो सब अनुभूति सिद्ध बात है।

पदार्थों के अधिगम के उपायभूत सम्यक् मतिज्ञान की निमित्तता के प्रतिपादक सूत्र में कहे गये दोनों पदों में अवधारण की संगतता—इस प्रकार ‘तदिन्द्रियान्द्रियनिमित्तं’ इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से ही होता है। दूसरा अर्थ इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से मतिज्ञान ही होता है। यहां कोई कहे कि मन के बिना एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक ज्ञान होता है, तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवों के भी मतिज्ञान होता और उसमें इन्द्रिय मन कारण पड़ते, याने कुमतिज्ञान में भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता, इसलिए इस अवधारण में निर्बलता है। उत्तर देते हैं कि यह है सम्यग्ज्ञान का प्रकरण। सम्यक् मतिज्ञान की बात कही जा रही है, क्योंकि इस प्रकरण में पदार्थों के सही जानने के उपायों का वर्णन है। पदार्थ प्रमाण और नयों से सही जाना जाता है। तो मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों की बात ही यहां नहीं है, क्योंकि वहां मतिज्ञान नहीं है। दूसरी बात यह कि उन मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवों का मन दर्शनमोह के उदय से ऐसा पिस गया है, निर्बल हो गया है कि मन होते हुए भी अब मन नहीं सा है, ऐसी परिस्थिति बन गई है।

तीसरी बात यह है कि इन्द्रिय और मन दोनों से जो हो उसकी बात कही जा रही है। एकेन्द्रिय से असंज्ञी तक के मन ही नहीं होता, अतः यहां मतिज्ञान से अर्थ लेना सम्यक् मतिज्ञान और वह इन्द्रिय और मन दोनों संयुक्त निमित्तों से होता है, यहाँ उभय का ग्रहण है, किसी के इन्द्रिय के निमित्त से होता, किसी के मन के निमित्त से होता। यो भेद जान कर असंज्ञी जीव की बात भी डाल दी जावे, ऐसा कथन नहीं है। भले ही ज्ञान के इन्द्रिय के निमित्त से होने वाले का विवरण किया है, लेकिन जिसके मन से सम्यक् मतिज्ञान होता है उसके

इन्द्रिय से भी सम्यक्‌मतिज्ञान होता है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ हुआ कि वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। अब इनमें से कहे गए प्रथम मतिज्ञान के भेद कहते हैं।

सूत्र 15

अवग्रहेहावायधारणा: ॥ १५ ॥

मतिविशेषनामक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन—मतिज्ञान के चार भेद है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह कहते हैं उसे जो इन्द्रिय और पदार्थ का संबन्ध बनने पर याने अभिमुखता होने पर जो निर्णय बना है वहाँ जो प्रथम परिचय होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। अवग्रह ज्ञान के बाद संशय जैसी स्थिति बनती है और उसमें अनेक कोटियों पर दृष्टि जाती है और जिज्ञासा होती है कि क्या है सच? तो उस समय ईहा ज्ञान संदेह जैसी स्थिति को खत्म करता हुआ कुछ जानकारी की ओर ले जाता है कि अमुक है। ईहा में कुछ निर्णय है, पर उसकी सही दृढ़ता अवायज्ञान से होती है। अवाय ज्ञान से निश्चय किए हुए पदार्थ को न भूल सके, ऐसी भीतरी धारणा को धारणाज्ञान कहते हैं।

यहां शङ्काकार कहता है कि मतिज्ञान के भेद तो इससे और पहले सूत्र में कह दिये थे। मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोध, ये मतिज्ञान के भेद बताये गए थे। फिर यह सूत्र क्यों कहा जा रहा है? तो इस कारण यह तो कोई जवाब नहीं है कि मतिज्ञान के भेदों को बताने के लिए यह सूत्र है और कोई यह जवाब देना चाहे कि मतिज्ञान के जो और भेद अज्ञात थे उनको मतिज्ञान के बताने के लिए यह सूत्र कहा है। यह बात यों ठीक न बैठेगी कि फिर तो जैसे स्मृति संज्ञा आदिक जुदे-जुदे प्रमाण हैं ऐसे ही अवग्रह, ईहा आदिक भी प्रमाण बन जायेंगे। इन अज्ञात भेदों का स्मृति आदिक में किसी में अन्तर्भाव नहीं होता इस कारण यह सूत्र कहना निरर्थक है।

इसका समाधान करते हैं कि यह सूत्र मतिज्ञान के जो प्रकार बताये गए थे पहले मति, मूर्ति आदिक उनमें से प्रथम जो मति है याने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है उसके भेद बताने को यह सूत्र कहा जा रहा है। यह प्रभेद प्रतिपादक सूत्र है। जैसे अनुमान तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तर्कज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, मतिज्ञान स्मरणपूर्वक होता है, स्मरण मतिपूर्वक याने सांव्यवहारिकप्रत्यक्षपूर्वक होता है, तो इस मतिज्ञान में और भी प्रकार हैं। उनमें से स्पष्ट प्रकार है धारणा। स्मृति धारणापूर्वक होती है। धारणा अवायपूर्वक होती है। अवाय ईहा पूर्वक होता है, ईहा अवग्रह पूर्वक होता है। इस तरह इनमें कुछ भेद थे, और ये सब इन्द्रिय अनिन्द्रिय के निमित्त से हुए हैं, इस कारण मतिविशेष के ये चार भेद हैं। जिन जीवों के मतिज्ञान होता है उनको इसी क्रम में होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा बहुत ही जल्दी-जल्दी हो जाने से लोग यहाँ अन्तर नहीं समझ पाते, मगर होने की विधि इस प्रकार है। उसके प्रभेदों को बताने के लिए इस सूत्र का अवतार हुआ है।

अब इस अवग्रह आदिक के क्या लक्षण है? सो सुनो—इन्द्रिय और पदार्थ के योग से जिसका जैसा जितना योग है उस योग से उत्पन्न हुए वस्तुमात्र ग्रहण से जो वस्तु भेद का ग्रहण बनता है वह अवग्रह कहलाता है। वस्तुमात्र का ग्रहण तो दर्शन है और उससे जो कुछ विकल्प बना, समझ बनी, जानने की मुद्रा बनी, वह है

अवग्रह । पहले तो इन्द्रिय और पदार्थों के योग से याने कितना दूर, कितना निकट, कितने संयोग में जाना जा सकता, वैसी ही स्थिति हो तो वहाँ वस्तु का सामान्य प्रतिभास होता है । उसका नाम तो दर्शनोपयोग है, पीछे आवान्तर सत्ता को ग्रहण करने वाला याने एक कुछ वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है । जैसे कि देखकर जाना कि यह मनुष्य है और अवग्रह से ग्रहण किए गए अर्थसामान्य में याने अवग्रह ने जाना तो भिन्न पदार्थ को, मगर सामान्य तरह से जाना । अब उसमें विशेष का कांक्षण होना, चुनाव होना, इस तरह विशेष जानना वह सब ईहा कहलाता है और उस ही का निर्णय बनाना सो अवाय है, और उसकी स्मृति का कारण बना रहे, इस प्रकार का जो अवधारण है उसे धारणाज्ञान कहते हैं । इस प्रकार प्रथम मतिविशेष के ये चार भेद कहे गए हैं ।

‘अवग्रहेयावायधारणाः’ इस सूत्र का सम्बन्ध तत् शब्द से लगता है । जो इस सूत्र से पहले सूत्र में ‘तत्’ शब्द दिया है उसके साथ इसका सामानाधिकरण्य बनता है अर्थात् वह प्रत्यभिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप है । सामानाधिकरण्य का अर्थ है विशेषणविशेष्य भाव जैसा । यहाँ कोई यह शङ्का न करे कि इन अवग्रह आदि ज्ञानों को तो मान लीजिए परिणाम जो इस सूत्र में चार ज्ञान बताये हैं और मतिज्ञान हुआ परिणामी और फिर यों सम्बंध करो कि मतिज्ञान के ये चार भेद हैं और ऐसा व्यधिकरणपना ठीक भी लगता है । जैसे कोई कहे गेहूं चून है, तो इसे सुनने में अच्छा तो नहीं लगता और कहा जाये कि गेहूं का चून है तो ठीक जंचता है, इसी तरह, वह मतिज्ञान अवग्रहादि रूप है । इसकी अपेक्षा यो कहा जाये कि मतिज्ञान के अवग्रह आदिक भेद हैं सो ठीक जंचेगा, ऐसी शंका न करना, क्योंकि यहाँ जिन्हें परिणामी और परिणाम कह रहे हो वे अभेद बन जाते हैं, और अभेद में समानाधिकरणपना घटता है, मगर ये सब भिन्न हों, तो समानाधिकरण तो क्या, अधिकरण भी नहीं बन सकता । जैसे हिमालय और विन्ध्याचल—ये दो अलग पर्वत हैं तो उनमें षष्ठी भी नहीं लग सकती । हिमालय का विन्ध्याचल है या विन्ध्याचल का हिमालय है, कुछ भी नहीं बनता और यही चूँकि अवग्रह आदिक भी मतिज्ञान हैं, इसलिए भेददृष्टि रखकर समानाधिकरणपना ठीक बैठता है ।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में विशेषरहित सामान्य की अज्ञेयता—अब यहाँ कोई शुद्ध सत्तावादी शङ्का करते हैं कि ५ ज्ञान हैं, चार ज्ञान हैं आदिक ऐसा भेद करना तो बिल्कुल अनुचित है क्योंकि सिर्फ एक शुद्ध सत्ता ब्रह्मात्र है जगत् । भेद जो कुछ दिख रहे हैं वे सत्य नहीं हैं । एक सत्ता ही सत्य है । देखो कभी-कभी दो चन्द्र दिखने लगते तो एक चन्द्र के दो दिखने लगे तो यह भेद गलत हो गया ना? कभी ऐसा कांच लगायें आँखों पर कि एक वस्तु के सैकड़ों दिखे तो जो भेद दिख रहे, वह गलत है ना? तो भेद सब असत्य है । एक चिन्मात्र अभेद शुद्ध सत्ता वही सही है ।

इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि इस तरह तो यह भी कहा जा सकता कि अभेद भ्रम है । प्रथम तो किसी मनुष्य को अभेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु सब भेद भेदरूप प्रत्येक पदार्थ जैसे-जैसे आवान्तर सत् हैं वैसे ही प्रतीत हो रहे हैं और फिर देखो बहुत दूर से एक पर्वत को देखा, जिस पर घने पेड़ थे तो दूर से तो ऐसा लगता जैसे एक ही मखमल बिछा हो, अलग-अलग वृक्ष नहीं मालूम होते । तो देखो यह अभेद गलत है ना? तो यों तो अभेद भी भ्रम हो जाता है । यदि कहो कि निकट से विचार कर देखने से सब सही हो जाता तो

यह ही बात भेद में भी है। अच्छी प्रकार विचारें तो ज्ञात हो जाता कि चन्द्र तो एक ही है जो दिख रहा है इसका कारण आंख में रोग है, सो कई दिखते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं। सामान्यरहित विशेष कुछ नहीं, विशेषरहित सामान्य कुछ नहीं। पदार्थ है सो स्वभाव में सदा रहेगा, अवस्थायें प्रति समय नवीन-नवीन होती हैं। तो इस तरह केवल अभेद ही है, शुद्ध सत्तामात्र है, यह हठ नहीं किया जा सकता।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ सामान्यरहित विशेष की अज्ञेयता—अब यहाँ कोई क्षणिकवादी कहता है कि हाँ शुद्ध सत्ता या अभेद स्थायी कोई तत्त्व नहीं है। ये जो सब कल्पनायें हैं जाति, नाम, सम्बन्ध, द्रव्यपन, स्थूलता, स्थिरता, प्रत्यभिज्ञान का विषय होना आदिक जितने भी भेद हैं ये सब कल्पनायें हैं। वस्तु तो इन कल्पनाओं से रहित है और स्वलक्षणमात्र है, ऐसा स्वलक्षण का ज्ञान इन्द्रिय से होता है और वही यथार्थ है और वही ज्ञान है। अन्य कोई तरह का ज्ञेय मानना भी सही नहीं और अन्य प्रकार का ज्ञान मानना भी सही नहीं। समाधान यह भी एक कथन मात्र है। वस्तु जब सामान्यविशेषात्मक ही होता है तो उसमें विशेष का एकान्त करना भी हठ है, पदार्थ ज्ञान का विषय है और वह पदार्थ सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है। ज्ञान अपने आवरक कर्म के क्षयोपशम से होता है और उसका विषय है सामान्यविशेषात्मक पदार्थ। और जो मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से इन्द्रिय अनिन्द्रिय का निमित्त करके जो पहले परिचय बन रहा है वह मतिविशेष है और वह मतिविशेष अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप है। अब अवग्रह आदिक का स्वरूप बतलाते हैं।

धारोदित दृष्टि से अवग्रह के स्वरूप का वर्णन—अवग्रह का स्वरूप समझने के लिए प्रथम सारी विधियों को समझ लें। हम आप मानवों को सर्वप्रथम तो दर्शन होता है, उसके बाद अनध्यवसाय जैसी स्थिति बनती है। तत्पश्चात् अवग्रह होता है, फिर ईहा, अवाय, धारण, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान इस तरह से यह परम्परा चलती है। यहाँ दर्शन का तो अर्थ है एक, जैसा कि कोई लोग शुद्ध प्रतिभास मानते करीब-करीब उस तरह का। उसके बाद अनध्यवसाय होता है याने ईषत् अध्यवसाय कुछ तो प्रतिभास में आया, पर कह नहीं सकते। वह है क्षणिकवादियों के निर्विकल्प प्रत्यक्ष जैसा। उसके बाद हुआ अवग्रह ज्ञान तो प्रथम दर्शन का स्वरूप समझें जो कि अवग्रह का कारण है। कुछ है इस प्रकार प्रतिभास करने वाला और पृथक् न हुए, ऐसे सामान्य वस्तु को जो ग्रहण करे उसको कहते हैं दर्शनोपयोग।

जैसे कोई पुरुष आंख मींचे हो, जैसे ही आंखें खुलीं और तुरन्त ही एक सामान्य बात प्रतिभास में आयी। जहाँ ही कोई वस्तु दिखी, देखी, मानी समझी वहाँ बन जाता है अवग्रह। उससे पहले जो महासत्ता का अवलोकन हो, दर्शन हो, वह है दर्शन, और पीछे तुरन्त ही जो विशेषों को जानने वाला ज्ञान हो वह है अवग्रह। दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक ये क्रम से होते हैं, लेकिन इनका अन्तर नहीं पहिचान में आता। इतना शीघ्र होता है कि अन्तर ही बताने को शब्द नहीं। तो ऐसा दर्शनोपयोग अवग्रह मतिज्ञान का कारण है यद्यपि ये समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं, आधार-आधेय, जन्य-जनक, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य अनेक धर्मस्यरूप हैं, फिर भी अपने ज्ञानावरण अन्तराय के क्षयोपशम के अनुसार-किसी धर्म को अंशरूप का ग्रहण बन जाता है और उस अवग्रह ज्ञान में विकल्प है, दर्शन में विकल्प न था, वह अवग्रह ज्ञान अनध्यवसाय से कुछ ऊँचा उठा

हुआ है। सामान्यविशेषात्मक वस्तु को जानने वाला अवग्रह, प्रमाण अनध्यवसाय से ऊँचा उठा हुआ है। अनध्यवसाय याने निर्विकल्प ज्ञान समाधि वाला नहीं, किन्तु दर्शन के बाद प्रथम ही प्रथम होने वाला अनिर्णयात्मक ज्ञान वही तो अनध्यवसाय है। इसमें दर्शन न तो प्रमाण है, न अप्रमाण है, किन्तु अनध्यवसाय प्रमाण है, अवग्रह प्रमाण है।

यहाँ यह शङ्खा न रखे कोई कि शुद्ध सत्ता का दर्शन होना तो संग्रहनय का काम हो गया, उसे दर्शनोपयोग का विषय क्यों कहते? तो बात यह है कि संग्रहनय तो तीन लोक तीन काल की वस्तुओं के दर्शनमात्र को ग्रहण करता है और दर्शन केवल एक प्रतिभास मात्र करता है। उसमें संग्रहण नहीं है, किन्तु मात्र अवलोकन है। संग्रहनय से तो अपनी जाति का विरोध न करके सर्व भेदों का संग्रह होता है परन्तु दर्शनोपयोग में संग्रह नहीं है। मात्र एक सामान्य झलक है, और यहाँ दर्शन में अद्वैतवादियों के ब्रह्मदर्शन के समान दर्शन नहीं है? क्योंकि दर्शन तो अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन—इन सभी में दर्शन का विषय होना चाहिए। तो पहले हुआ दर्शन, फिर हुआ अवग्रह ज्ञान। अवग्रह ज्ञान में विशेष बोध हुआ है। जीवों के इसी क्रम से ज्ञान होता है, किन्तु जल्दी-जल्दी ज्ञान होते रहने से क्रम का बोध नहीं हो पाता, पर जब-जब भी, इन छद्मस्थ जीवों को कोई नया-नया मतिज्ञान होता है तो दर्शन, अवग्रह ईहा आदिक क्रम से हुआ करते हैं।

अवग्रहज्ञान की इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तता का प्रकाश—यहाँ शङ्खाकार कहता है कि अवग्रह ज्ञान तो दर्शन से उत्पन्न होता है तो फिर इस अवग्रह ज्ञान को इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ, ऐसी विरुद्ध बात क्यों कही जाती है? समाधान यह है कि अवग्रह ज्ञान परम्परा से इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ है, इस कारण ईहा, अवाय आदिक ज्ञानों के समान वह अवग्रह ज्ञान भी परम्परा से इन्द्रिय और मन से जन्य है। जिस अवग्रह ज्ञान से जो जाना उसी विषय में ईहा ज्ञान बनता। तो जो किसी इन्द्रिय से जाना जा रहा था अवग्रह में वही तो दृढ़ता से जाना गया ईहा अवाय आदिक में। तो जैसे, ईहा, अवाय आदिक को परम्परा से इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ कहते हैं, ऐसे ही दर्शन हुआ इन्द्रिय और मन से, क्योंकि चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ऐसे भेद किए जा रहे हैं? ।

वास्तविकता तो यह है कि दर्शनों में जो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन भेद किए गए, उसका अर्थ यह है कि चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान बनाने के लिए उद्यम किया जाता है उस ज्ञान से पहले जो सत्ता सामान्यरूप दर्शन है उसका नाम चक्षुदर्शन है, इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर बाकी अन्य इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है उससे पहले जो सत् सामान्य का दर्शन है वह दर्शन कहलाता है अचक्षुदर्शन। तो ऐसा मानकर चले कि चक्षु और अचक्षु से दर्शन हुआ है तो उसी धारा में ज्ञान बना है अवग्रह ज्ञान, तो वह परम्परा से इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान कहलाता है तथा क्रम से इन्द्रिय और मन द्वारा जन्य है, ऐसा निश्चय होने के कारण यहाँ कोई विरोध नहीं आता।

सारांश यह है कि साक्षात् रूप से देखें तो यो कहा जायेगा कि अवग्राहज्ञान दर्शन से जन्य है और परम्परा करके इन्द्रियों और मनों से जन्य है, यह क्रम बराबर है। और जिस तरह अनिन्द्रिय से आत्मा का आलोकन प्रतीत होता है उसी प्रकार अवग्रह ईहा आदिक भी तो इन्द्रिय और मन से होते हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है तब

या तो परम्पराजन्य मान लो अथवा प्रतीति के अनुसार उसे इन्द्रिय और मन से जन्य मान लो । सारांश यह है कि ये अवग्रह आदिक ज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुए हैं । पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान की भाँति इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष नहीं है यह ज्ञान । प्रतीति भी कहती है कि जो यह मैं ‘कुछ है’ इस तरह महासत्तारूप केवल सामान्य वस्तु को देख चुका हूँ वहीं मैं रूप, आकार, रचना आदिक सामान्य भेदों द्वारा वस्तु का अवग्रह कर रहा हूँ और वहीं मैं अन्य विशेष अंशों में उस वस्तु का निर्णय प्रारम्भ कर रहा हूँ और वहीं मैं, ऐसा ही है, इस ढंग से वस्तु का पूर्ण निर्णय कर रहा हूँ और वहीं मैं उसी वस्तु को कालान्तर में भी स्मरण करने योग्य रहूँ, इस रूप से धारणा कर रहा हूँ । तो देखो उन ही इन्द्रिय और मन द्वारा इन सबकी उत्पत्ति प्रतीत हो रही है । इसी निमित्त को पाकर आत्मा क्रम से दर्शन और इन अनेक गुणों को उत्पन्न कर रहा है ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इन चारों ज्ञानों में ज्ञानरूपता की सिद्धि—अब यहाँ कोई शङ्खा करते हैं कि वर्ग, रचना, आकार आदिक का सामान्यरूप से जिस ज्ञान में प्रतिभास हो रहा है वह तो विशेषज्ञान है । उस विशेषज्ञान का ही नाम अवग्रह रख दिया जाये तो हम विवाद नहीं रखते और इसी तरह वस्तु के विशेष अंशों का जिस ज्ञान में निश्चय किया जा रहा है वह अवाय है, तो किसी प्रकार ये दो ज्ञान तो ठीक हो सकते हैं अवग्रह और अवाय लेकिन ईहा और धारणा क्या चीज है? ईहा तो आकांक्षा को बोल रहे हैं सो आकांक्षा, इच्छा ये तो ज्ञान से पृथक् गुण हैं और धारणा क्या है? संस्कार । तो संस्कार भी ज्ञान से पृथक् गुण है । इच्छा और संस्कार तो ज्ञानरूप नहीं हो सकते, क्योंकि गुणों के २४ भेदों में इच्छा और संस्कार को याने भावना को जुदा माना है, ऐसा कोई दार्शनिक कहता है ।

समाधान इसका यह है कि इच्छा और संस्कार आत्मा की परिणति से कोई अलग चीज नहीं हैं । अभेददृष्टि से देखो—इच्छा और संस्कार ये भी ज्ञान की ही परिणतियां हैं । वह किस तरह कि ज्ञान ही एक चाह रूप से जानन करे सो ही तो इच्छा है और ज्ञान का एक दृढ़ अवधारण रहे वहीं तो संस्कार अथवा धारण है । आदि आत्मा से इसे पृथक् माना जाये तो यह कुछ भी नहीं ठहरता । वस्तु के अंशों की आकांक्षारूप में जो दृढ़ विशेष ज्ञान है उस ज्ञान का ही नाम ईहा है और उस ईहा ज्ञान से जो अधिक दृढ़ ज्ञान है सो अवाय है और अवाय ज्ञान से भी अधिक दृढ़ ज्ञान का नाम धारणा है । तो ये सब ज्ञान की ही परिणतियां हैं । यद्यपि इच्छा मोहनीयकर्म के उदय से चारित्रगुण की विभाव पर्याय बनती है और ज्ञान आत्मा के चैतन्य गुण का परिणमन है सो ऐसी प्रतिबोध प्रायोजनिक भेददृष्टि करें तो इच्छा न्यारी चीज, ज्ञान न्यारा है, फिर भी ईहाज्ञान जो उत्पन्न होता है वह पूर्व समय में एक जिज्ञासा रूप में उमड़ कर ईहा ज्ञान बनता है । सो उस ईहा ज्ञान में आकांक्षा का व्यवहार करते हैं । जैसे कि जो श्रेणी में ध्यानस्थ मुनि रहे उन्हें भी मुमुक्षु कह देते हैं और मुमुक्षु का अर्थ है मोक्ष पाने की इच्छा करने वाले लोग । तो क्या उन श्रेणियों में रहने वाले मुनि मोक्ष की इच्छा कर रहे हैं? क्या उनमें इच्छा जग रही है? इच्छा तो नहीं जग रही, फिर भी उपचार से, व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है । तो ऐसे ही क्षयोपशम के अनुसार उनाज्ञानों में अपेक्षाकृत अतिशय उत्पन्न होने का ही नाम ईहा, अवाय और धारणा है ।

सुख दुःख आदि परिणामों में भी ज्ञानधारावाहिता—यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि चेतन आत्मा में होने वाले परिणमनों को अभेददृष्टि से ज्ञान की ही बात मानने की कहें और यह बताते यों हैं अनेक लोग कि किसी भी गुण को ज्ञान का उपादान कारण नहीं कहते। तो सुख दुःख आदिक परिणामों के साथ व्यभिचार दोष आता है। सुख दुःख आदिक भी तो ज्ञान के उपादान कारण बन रहे हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

इस शङ्का का समाधान यह है कि वे सुख दुःख आदिक भी ज्ञानस्वरूपपने से युक्त हैं और ऐसी बात स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है अर्थात् सुख, दुःख, इच्छा, भावना सभी तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं, और इन सभी परिणामों पर चैतन्यभाव का अन्वय है। आत्मा का जो स्वसम्वेदन गुण है उस पर तो ज्ञानात्मकता ही छायी जा रही है और देख लो, सुख दुःख स्वसम्वेद्य होते या नहीं, तब ही तो जीव तुरन्त सुख दुःख का अनुभव करता है। तो जीव के जितने भी परिणमन हैं उन सबको जीवस्वरूपपने की दृष्टि से स्वसम्वेदनस्वरूपता सिद्ध है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक ये पांचों ही भाव हैं। इन ही के तो ५३ भेद किए गए हैं। ये सबके सब सम्वेदनस्वरूप हैं, क्योंकि चैतन्य उपयोग स्वरूप जीवद्रव्य को ही विषय करने वाला है। यदि उनको असम्वेदनपने की बात कहेंगे तो उनकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इसी कारण सुख दुःख, इच्छा द्वेषादिक ये प्रधान के धर्म नहीं हैं। अवग्रह ज्ञान आदिक भी प्रधान के धर्म नहीं हैं। दर्शन सभी प्रकार के ज्ञान ये सब आत्मा की परिणति हैं, प्रकृति की परिणति नहीं है, अचेतन के परिणाम नहीं हैं। यदि ये अचेतन के परिणाम होते तो अचेतन के परिणामों का आत्मा कभी सम्वेदन कर न सकता था। जो लोग ऐसा कहते हों कि पुरुष का याने आत्मा का स्वभाव तो मात्र चेतना है और बाकी संकल्प ज्ञान अभिमान अभिमनन निर्णय, ये सब प्रधान की पर्यायें हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो-जो स्वसम्वेदनात्मक हो, वे सब आत्मा के ही परिणाम हो सकते हैं, नहीं तो उनका स्वसम्वेदन नहीं बन सकता। यह सब स्वसम्वेदन सही है, इसके सभी लोग साक्षी हैं, इसमें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं आता।

अवग्रह आदिक ज्ञानों की क्रमशः: उत्पत्ति—शङ्काकार कहता है कि अवग्रह आदिक मतिज्ञान ये सब इस क्रम से होते हैं, इसमें तो कुछ सन्देह हो रहा है, क्योंकि जैसे दूरवर्ती पदार्थों में इन अवग्रह आदिक ज्ञानों का क्रम से प्रवर्तन माना जा रहा है सो ऐसा तो समीपवर्ती पदार्थों में नहीं दिखता। जिस किसी को देखते हैं तो एक साथ ही एकदम स्पष्ट हो जाता। वहाँ पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, ईहा हुई, ऐसा कुछ नहीं है।

समाधान यह है कि भले ही जल्दी-जल्दी होने की दृष्टि से इनका क्रम नहीं जाना जाता, किन्तु होते ये सब क्रम से ही हैं। जैसे १०० पानों में एक सूई जोर से छेदी जाये तो वहाँ पता नहीं पड़ता है कि ये पान क्रम-क्रम से छिदे हैं, लेकिन छिदे तो क्रम-क्रम से ही हैं, ऐसे ही ये दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक अभ्यास दशा में एकदम शीघ्र होते हैं तो उनकी शीघ्रता के कारण यह नहीं ज्ञात हो पाता कि ये सब क्रम से होते हैं। इसका कारण है कि ऐसा अधिक अभ्यास कि शीघ्र होने वाले पदार्थ का क्रम से ज्ञान होना कठिन हो जाता है, यह सब क्षयोपशमविशेष का प्रताप है। अवग्रह आदिक ज्ञान जब अनभ्यस्त दशा में पाये जाते हैं और पदार्थों का अभ्यास नहीं है समझने का, वर्णन का तो क्रम कुछ ज्ञान होता है। तो जैसे वहाँ क्रम बसा है, ऐसे ही अभ्यासदशा में भी ये सब ज्ञान क्रम से होते हैं और उनका क्रम है, मगर अभ्यास है क्षयोपशम विशेष है कि

वहाँ क्रम का पता नहीं पड़ता ।

अवग्रह ज्ञान की इन्द्रियजन्यता व प्रमाणरूपता—अब यहाँ कोई क्षणिकवादी शङ्खा रख रहा है कि जो यह कहा जा रहा कि अवग्रहज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होता है सो तो बात सही नहीं है, क्योंकि अवग्रहज्ञान तो विकल्पात्मक ज्ञान है, और इन्द्रियाँ संकल्प-विकल्प वाले ज्ञान को पैदा नहीं करती । विकल्प करना तो मिथ्या वासना का काम है । उनमें मन का सहयोग रहे तो रहे, पर इन्द्रिय से उत्पन्न होने की बात नहीं बनती । इन्द्रियाँ तो निर्विकल्प ज्ञान को ही उत्पन्न करती हैं । तब बात यह आयी कि अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है । और जो-जो विकल्पस्वरूप है वह सब अवस्तु है । तो अवस्तु को जो विषय करे वह ज्ञान क्या प्रमाण कहला सकता?

इस शङ्खा के समाधान में कहते हैं कि अवग्रहज्ञान का विषय द्रव्य और पर्यायों को सामान्यरूप से विषय करना है । केवल सामान्य को या केवल विशेष को, या केवल क्षण को ही जाने सो बात नहीं । तो सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को, जाने के कारण अवग्रहज्ञान इन्द्रियजन्य है, ऐसी बात युक्तिसंगत हो जाती है । इस अवग्रहज्ञान का कोई निषेध भी तो नहीं कर सकता । जो विकल्प ज्ञानस्वरूप अवग्रहज्ञान हो रहा सो सच्चा ही हो रहा, मिथ्या विकल्परूप नहीं है । अगर मिथ्या विकल्परूप होता अवग्रहज्ञान तो अन्य विकल्पों से इसमें बाधा आ जाती और साथ में अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है । तो ऐसा स्पष्ट अवग्रहज्ञान जो निर्णायक है, अवग्रहरूप है उसका कैसे प्रतिबोध किया जा सकता है? स्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य स्वयं शङ्खाकार ने भी माना है, बल्कि निर्विकल्प ज्ञान को स्पष्ट नहीं माना जा सकता है । तो चूंकि अवग्रहज्ञान एकदेश स्पष्ट है, इसलिए वह इन्द्रिय से जन्य है और हेतुवां से भी सिद्ध है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है । उसका अनुमान प्रमाण है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है सम्वादक होने से । जो ज्ञान सम्वाद के होते वे प्रमाण हैं । सम्वादक का अर्थ है कि उनसे सफल प्रवृत्ति बने और उनमें किसी प्रमाण से बाधा न आये, और अवग्रहज्ञान का साक्षात् फल भी है, परम्परा फल भी है । साक्षात् फल तो यह है कि अपना और पदार्थ का निर्णय करना है और, परम्परा फल यह है कि उससे ईहा ज्ञान बनता और त्याग, उपादान और उपेक्षा—तीन बातें भी प्रकट होती हैं । तो इतना उत्तम है यह अवग्रहज्ञान जो कि प्रमाणयोग्य कार्य को कर रहा है । इस कारण अवग्रहज्ञान को इन्द्रियजन्य न मानना और प्रमाण न मानना यह तो एक मिथ्या प्रलाप है ।

अधिगम के उपायों में प्रारम्भिक उपाय अवग्रहज्ञान—पदार्थों के स्वरूप के जानने का उपाय प्रमाण और नय है, इसी प्रसंग में प्रमाण का वर्णन चल रहा है । प्रमाण दो प्रकार के होते हैं—परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण । प्रत्यक्षप्रमाण तो उसे कहते हैं जो इन्द्रिय और मन के निमित्त बिना केवल आत्मशक्ति से उत्पन्न होते हैं और परोक्षज्ञान उन्हें कहते हैं जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होते हैं । परोक्षज्ञान दो प्रकार के हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । यहाँ प्रकरण चल रहा है जानकारी के उपाय का । सही जानकारी बनती है सही प्रमाण से । तब यहाँ मतिज्ञान श्रुतज्ञान का प्रयोजन है । सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञान से सम्यक् मतिज्ञान की ५ जातियाँ हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान । उनमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जिसका कि नाम मतिविशेष है उसके भेद कहे जा रहे हैं । ये चार प्रकार होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ।

अवग्रहज्ञान के विषय में अनेक शंका समाधान द्वारा वर्णन चल रहा है। यहाँ अवग्रह ज्ञान को प्रमाण और इन्द्रियज एवं अनिन्द्रियज सिद्ध किया है। अवग्रहज्ञान का विषय है द्रव्य पर्याय को सामान्य विशेष रूप से जानना। द्रव्यपर्याय को सामान्य विशेष रूप से जाननहार अवग्रहज्ञान इन्द्रियज है, क्योंकि इसमें किसी अन्य प्रमाण से विरोध नहीं आता तथा यह स्पष्ट है। यदि अवग्रह ज्ञान इन्द्रियज न होता तो किसी प्रमाण से विरोध भी आता और अस्पष्ट रहता। जितनी भी कल्पनायें हैं, जो वास्तविक ज्ञान नहीं है वह सब अन्य प्रमाण से बाधित होता है और इसी कारण वह इन्द्रियज नहीं है, ऐसा स्वयं क्षणिकवादी शंकाकार भी मानते हैं। अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है, इसका अर्थ है कि यहाँ निश्चयरूप से निर्णय को ही विकल्प कहा है, क्योंकि समस्त ज्ञान अर्थाकार जो जानते हैं इसी को ही ज्ञानसम्बंधी विकल्प कहते हैं। वह विकल्प ज्ञान का रूप है, अतएव प्रमाण है।

चार हेतुओं से अवग्रह ज्ञान के प्रमाणत्व की सिद्धि—अवग्रहज्ञान को प्रमाण प्रसिद्ध करने के लिए ये साधन युक्तिसंगत हैं अवग्रहज्ञान प्रमाणरूप है अथवा विकल्पज्ञान प्रमाणरूप है, क्योंकि निषेधरूप से इसमें सम्वादकपना है। दूसरा हेतु यह है कि विकल्पज्ञान ज्ञान का साधकतम है, याने प्रमाण का साधक है। तीसरा हेतु यह है कि विकल्पज्ञान अनिश्चित पदार्थों का निश्चय करने वाला है। चौथा हेतु यह है कि जो पदार्थों को जानने वाले लोग हैं उनको यह विकल्पज्ञान अपेक्षा करने योग्य है याने जानने वाले लोग विकल्पज्ञान की अपेक्षा करते हैं। इसके बिना निर्णय नहीं होता है इसलिए विकल्पज्ञान तो प्रमाण है। किन्तु किसी भी प्रकार का जहाँ अर्थविकल्प नहीं, न वस्तु जाना जा रहा, न अंश, न संसर्ग, न विशेषण, न विशेष कोई भी कल्पना जहाँ नहीं, जानकारी नहीं, ऐसा निर्विकल्प दर्शन तो प्रमाण है ही नहीं, क्योंकि ऐसा निर्विकल्प दर्शन निर्वाध सम्वाद नहीं है। उसमें विरोध आता है। दूसरा हेतु वह प्रमिति का साधकतम नहीं है। तीसरा हेतु वह अनिश्चित पदार्थों का निश्चय करने वाला नहीं है। चौथा हेतु जानने वाले लोग ऐसे निर्विकल्प दर्शन की बात नहीं जोहा करते हैं, इस कारण निर्विकल्प दर्शन तो प्रमाण नहीं, किन्तु विकल्पज्ञान प्रमाणरूप है। इसके साथ ही साथ अवग्रह ज्ञान का जब फल है तो वह प्रमाण भी है।

फलवान होने से भी अवग्रहज्ञान में प्रमाणत्व की प्रसिद्धि—अवग्रह ज्ञान का फल यह है कि वह अपने प्रमाणपन में निज और पदार्थ की निश्चय रखता है, यह तो साक्षात् फल याने अज्ञाननिवृत्ति हो गई और परम्परया फल यह है कि वह ईहाज्ञान को उत्पन्न करता है और जो त्यागने योग्य पदार्थ है, उसके त्यागने की बुद्धि दिलाता है, ग्रहण करने योग्य पदार्थ को ग्रहण करने की बुद्धि दिलाता है, उपेक्षा के योग्य पदार्थों को उपेक्षित करने की बुद्धि दिलाता है। इसी कारण ये सब विकल्पज्ञान प्रमाणरूप हैं। शंकाकार कहता है कि यह तो प्रमाण से फल का अभेदरूप से कथन किया गया याने प्रमाण का फल अज्ञाननिवृत्ति है। तो अज्ञाननिवृत्ति और प्रमाण कोई जुदी चीज तो नहीं हैं। एक ही चीज रह गए। तो प्रमाण से फल का जब भेद न रहा तो उसमें प्रमाण और फल की व्यवस्था कैसे बनेगी? यह प्रमाण है, यह फल है यही व्यवस्था अभेद में नहीं बन सकती, अन्य व्यवस्था तो क्या बनाई जा सकेगी, क्योंकि अभेद व व्यवस्था में विरोध है। इस शङ्का का समाधान यह है कि कोई भी एक पदार्थ अनेक धर्मात्मक हुआ करता है। तो जब पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप है तो ज्ञानसाधकतम भी

है और क्रियारूप भी है। तो साधकतम की दृष्टि से तो ज्ञान में प्रमाणता आयी और क्रिया के रूप से उसमें फल की व्यवस्था बनी, इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे एक दीपक है, उसमें प्रकाशकत्व धर्म भी है और प्रकाशन क्रिया भी है, वह प्रकाश का कारण भी है और प्रकाश करने की क्रिया भी है।

यहाँ यह शङ्का न रखनी चाहिए कि एक ही ज्ञान कारण बन जाये और क्रिया बन जाये, यह कैसे हो सकेगा? उसमें दो शक्तियाँ हैं—जैसे अग्नि में कारण और क्रिया एक साथ पायी जाती हैं, अर्थात् अग्नि गर्मि के द्वारा जलती है। तो जलाने की क्रिया भी है और उसके कारण गर्मि भी है। तो जैसे एक साथ अग्नि में दो शक्तियाँ देखी गईं, इसी प्रकार ज्ञान में भी प्रमाणत्व और क्रिया ये दोनों पायी जा सकती हैं। तो पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, इसलिए उसका करण बनने में और क्रिया बनने में परस्पर विरोध नहीं है। इस तरह अवग्रहज्ञान प्रमाणरूप है और वह अज्ञाननिवृत्ति करता है, यह तो उसका साक्षात् फल है और उसका परम्परया फल है हेय वस्तु में हानि की बुद्धि कराना, उपादेय वस्तु में ग्रहण की बुद्धि कराना व उपेक्ष्य वस्तु में उपेक्षा की बुद्धि कराना। अतः प्रमिति में साधकतम व फलवान् अवग्रहज्ञान प्रमाण है।

अवग्रहज्ञान की प्रमाणता के विषय में शंका व समाधान—यहाँ शङ्काकार कहता है कि पदार्थ का याने परमार्थ स्वलक्षण का ग्रहण तो परमार्थभूत निर्विकल्प दर्शन द्वारा हो चुका है अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष से वस्तु का ग्रहण हो चुका है, उसके बाद फिर अवस्तुभूत पदार्थ को विषय कर रहा है अवग्रहज्ञान याने अवग्रहज्ञान से अन्यापोह ही तो समझा गया। अन्यापोह का अर्थ है अन्य का निवारण कर देना। जैसे प्रथम ही कुछ दिखा तो जब तक उसमें अमुक पदार्थ है ऐसा विकल्प नहीं बनता तब तक तो वह सही ज्ञान है, क्योंकि उसने परमार्थ स्वलक्षण को जाना। अब जहाँ पदार्थ की सत्ता ज्ञान में आती है। जैसे कि यह घड़ा है तो इसका अर्थ है कि उस ज्ञान में यह आया कि अन्य कुछ पदार्थ नहीं है, अघट नहीं है। घड़े को छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं है—ऐसा बोध हुआ अवग्रहज्ञान में। सो यह बोध तो अवस्तुभूत है। सो यों अवग्रहज्ञान अस्पष्ट ज्ञान रहा। यदि उस अवग्रहज्ञान को निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पीछे हुआ न माना जाये और यों कह दिया जाये कि अवग्रहज्ञान भी निर्विकल्प दर्शन के साथ ही उसी समय में हुआ तो ऐसा अवग्रहरूप विकल्पज्ञान प्रमाण से बाधित होता है। इस कारण अवग्रहज्ञान प्रमाणभूत नहीं, किन्तु निर्विकल्प दर्शन ही प्रमाणभूत है।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जब सम्यक् प्रतीतिपूर्वक ज्ञात हो रहा कि यहाँ स्व और अर्थ का सम्बेदन है तो वहाँ निर्विकल्प कैसे कहा जा सकता है? अवग्रहज्ञान तो इन्द्रियजन्य ज्ञान है और निश्चयात्मक ज्ञान है। यद्यपि उसमें ईहा और अवाय की तरह निश्चय नहीं पड़ा, फिर भी जाना वह तो निश्चय ही है। अवधारण न हो, पर समझा तो गया ही। निर्विकल्प ज्ञानों से पदार्थ का सम्बेदन नहीं हो पाता, सविकल्प ज्ञान की भी महत्ता समझनी चाहिए। और फिर ज्ञान तो जितने भी होते हैं सब सविकल्प होते हैं अर्थात् अर्थाकार का परिचय रखने वाले होते हैं। यहाँ बात यह चल रही है कि सबसे पहले तो होता है दर्शन। उसके बाद होता है अवग्रहज्ञान। इसे क्षणिकवादी यों कहते हैं कि दर्शन का अर्थ है निर्विकल्प प्रत्यक्ष और अवग्रह का अर्थ है सविकल्प प्रत्यक्ष। वास्तविक अर्थ तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय में है। सविकल्प प्रत्यक्ष तो अन्यापोह रूप सामान्य को विषय करता है, इस कारण अवग्रह ज्ञान अप्रमाण है, किन्तु उनका यह कथन प्रतीति विरुद्ध है।

निर्णयक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान ही हो पाता है। जिसे कि निर्विकल्पज्ञान कहते हैं वह तो मात्र दर्शन है।

निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञानों के धर्मों का एक दूसरे में अध्यारोप मानने के व्यर्थ परिश्रम का निरूपण—अब इस प्रसंग में क्षणिकवादियों का एक सिद्धान्त और समझना चाहिए। वह ज्ञानपरिणतियों को दो प्रकार से मानते हैं—एक तो यह कि एक ही ज्ञानधारा में निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान क्रम से शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होते रहते हैं और तब जैसे शीघ्र पहिया घुमाया जाये तो उसमें जो जुदे-जुदे आरे रहते हैं, भाग उन भागों के एकपने जैसा ज्ञान होता है। अतिशीघ्र भ्रमण में तो उनको अन्तराल भी दृष्टि से अगोचर रहता है। और कभी-कभी तो बिल्कुल पोलसी ही दिखाई देती है। तो इस ही तरह वहाँ ज्ञानधारा में आगे-पीछे जो निर्विकल्प सविकल्प ज्ञान हो रहे सो उनका ऐक्य प्रतिभासित होता है। दूसरी बात क्षणिकवादी यों भी मानते हैं कि उन दो ज्ञानधाराओं की साथ-साथ प्रवृत्ति हो रही है, इस कारण उन सविकल्प अविकल्प मन स्वरूप दोनों ज्ञानों की युगपत् प्रवृत्ति होने के कारण व्यवहारी जन मोहवश सविकल्पज्ञान और निर्विकल्पज्ञान में एकत्र का निर्णय कर बैठते हैं। इससे व्यवहारी लोग सविकल्पज्ञान का जो निर्णय करना धर्म है उसका निर्विकल्पज्ञान में आरोप कर बैठते हैं और निर्विकल्पज्ञान में जो स्पष्टता धर्म है उसका सविकल्प मिथ्याज्ञान में आरोप कर बैठते हैं।

सारांश यह है कि जो प्रतिभास होता है कि सविकल्पज्ञान तो स्पष्ट है और निर्विकल्पज्ञान भी निर्णयक है, सो बात तो यह है कि स्पष्टता तो है निर्विकल्पज्ञान में, पर एक साथ होने के कारण या अतिशीघ्र होने के कारण निर्विकल्पज्ञान की स्पष्टता का आरोप सविकल्प ज्ञान में किया जाता है। इसी प्रकार सविकल्प ज्ञान तो है निर्णयक, किन्तु एक साथ होने के कारण या शीघ्र होने के कारण सविकल्प ज्ञान के निर्णय का आरोप निर्विकल्प ज्ञान में किया जाता है। इस तरह क्षणिकवादी मानते तो हैं निर्विकल्पज्ञान को ही प्रमाण और स्पष्ट और सविकल्पज्ञान को अप्रमाण और अस्पष्ट मानते हैं और प्रतीति से, भ्रम सिद्ध करते हैं, किन्तु क्षणिकवादियों का यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि दोनों ज्ञानों का जब अपना-अपना व्यवसाय, विषय प्रतिभास जुदा-जुदा है तो उसमें एक का दूसरे में आरोप करने का स्थान नहीं रहता। अगर एक के धर्म का दूसरे के धर्म में आरोप कर दिया जाये तो कोई भी धर्म किसी का अपना निजी नहीं रह सकता। फिर तो कोई यों भी बक सकता है कि आत्मा के ज्ञान का आरोप घट के रूप में कर दो। घट के रूप का आरोप आत्मा के ज्ञान में कर दो। यों तो सर्व अव्यवस्था हो जायेगी। और यों फिर व्यवहार में न किसी का पुत्र, मकान, स्त्री धन कुछ भी निर्णय नहीं रख सकते। किसी का किसी में आरोप करके किसी का स्त्री, पुत्र किसका भी सिद्ध कर डालें। तो इस तरह निर्विकल्प दर्शन का विषय अलग है, अवग्रहज्ञान का विषय अलग है। उनमें एक दूसरे का आरोप करके अवग्रहज्ञान को व्यर्थ सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है।

स्वपरव्यवसायात्मक अवग्रहज्ञान में निरारोप स्पष्टता—सम्यग्ज्ञान का स्वभाव स्वपर निर्णय करना है। चाहे कोई बड़ा ज्ञान हो, चाहे कोई अल्प ज्ञान हो मगर ज्ञान के स्वरूप की झलक सभी ज्ञानों में है। जैसे चाहें छोटासा टिमटिमाता हुआ दीपक हो और चाहे महान प्रकाशक सूर्य हो, पर स्वपर-प्रकाशकता दोनों जगह एक समान है। इसी प्रकार सब जीव एक समान हैं, ज्ञान का स्वरूप भी एक समान है, सभी स्वपर-प्रकाशक हैं। अब उनमें कुछ अन्य बातों की विशेषता होती है। कोई ज्ञान अस्पष्ट है, कोई ज्ञान स्पष्ट है, उनमें किसी की

अस्पष्टता का स्पष्ट में आरोप करना और किसी की स्पष्टता का अस्पष्ट में आरोप करना यह तो मात्र अज्ञानपन है। और भी विचार करिये—स्पष्ट और अस्पष्ट को मिला देने और आरोप करने का कारण यह ही तो बताया था क्षणिकवादियों ने कि निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान एक साथ होते हैं। तो एक साथ होने के कारण यदि एक के धर्म का दूसरे में आरोप करना माना जाये तो यह बतायें क्षणिकवादी कि किसी समय कोई गाय को तो देख रहा है और घोड़े का विकल्प करे है याने चिन्तन तो चल रहा था घोड़े का और सामने से गाय निकली तो दर्शन हो गया गाय का। तो दर्शन और विकल्प—ये दोनों एक साथ हुए ना। तो यहाँ भी ऐस्य आरोप कर लिया जाये क्या? क्यों नहीं वहाँ एकपने का निर्णय करते? दर्शन में तो गाय मानते और विकल्प में घोड़ा मानते, ऐसा क्यों? वहाँ भी परस्पर धर्म का आरोप होना चाहिए।

यदि क्षणिकवादी यह कहें कि गाय का दर्शन और घोड़े का विकल्प—इन दोनों ज्ञानों में निकटता नहीं है और इस कारण एक के धर्म का दूसरे में आरोप नहीं होता, किन्तु एक ही पदार्थ का दर्शन हो और उस ही एक का विकल्प हो। तो उसमें निकटता मानी जाती है, याने प्रत्यासत्ति मानी जाती और वह प्रत्यासत्ति है एक विषय पर। तब समाधान में यों समझो कि व्यर्थ का परिश्रम क्यों किया जा रहा है? वह प्रत्यासत्ति तादात्म्य सम्बन्ध को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। यदि वे कहें कि एक सामग्री के अधीन होना यह प्रत्यासत्ति है तो यह तो गौदर्शन और अश्व विकल्प में भी है। इस कारण मानना चाहिए कि एक जीव एक ही पदार्थ के बारे में जो दर्शन, ज्ञान बना रहा है वही एक प्रत्यासत्ति है।

इस प्रकरण का भाव यह लेना कि निर्विकल्प दर्शन और सविकल्प अवग्रह ज्ञान ये एक धारा में तो चल रहे हैं क्रम से, पर इनका विषय जुदा-जुदा है। एक के धर्म का दूसरे में आरोप नहीं किया जा सकता। तो अवग्रहज्ञान एक स्वतंत्र प्रमाण है, निर्विकल्प दर्शन से पृथक् उसकी अवस्था है।

स्पष्टज्ञानावरण व अस्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यता से विकसित ज्ञानों में स्पष्टता व अस्पष्टता का योग—क्षणिकवादियों के निर्विकल्प ज्ञान और उसके बाद होने वाले सविकल्प ज्ञान में एकत्व की बात कहना जब जरूरी पड़ गई और अन्य प्रकार से सिद्धि न हुई तो उनका यह कहना है कि आत्मा में कोई ऐसी विशेष वासना लगी हुई है जो किन्हीं-किन्हीं दर्शन और विकल्प में एकल का आरोप करती है और गौदर्शन अश्वविकल्प जैसे दर्शन और विकल्प में एकत्व का निश्चय नहीं करती। यद्यपि सहभावी दोनों ही हैं याने एक अर्थविषयक दर्शन और विकल्प ये भी सहभावी हैं और गौदर्शन और अश्वविकल्प ये भी सहभावी हैं, तिस पर भी कोई वासना विशेष ऐसी है कि किसी में एकत्व का आरोप है, किसी में नहीं। इस मंतव्य के समाधान में कहते हैं कि यही बात तो क्षयोपशमरूप योग्यता से मानी गई है। वह वासना क्या है? क्षयोपशमरूप, योग्यतारूप ही होगी। याने इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञान में जो स्पष्टपना होता है वह स्पष्ट ज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण होता है। यह स्पष्टता अनुमान आदिक में नहीं होती, क्योंकि वहाँ स्पष्ट ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है। यही योग्यता कहलाती है इसलिए ज्ञान के विकास योग्यतानुसार होते हैं, ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि दो प्रकार के अवग्रह ज्ञान हुए। एक तो वस्तुविषयक अर्थात् सामान्यविशेषात्मक

वस्तु को विषय करने वाला इसका नाम है अर्थावग्रह और दूसरा है अव्यक्त शब्द रस, गंध, स्पर्श स्वरूप व्यञ्जन को जानने वाला । इसका नाम है वयञ्जनावग्रह । यह स्पष्ट ज्ञान है । स्पष्टता और अस्पष्टता का सम्बन्ध विषय से वहाँ नहीं, किन्तु जो विषय करने वाला ज्ञान है उसका कारणभूत ज्ञानावरण क्षयोपशम से है । तब निष्कर्ष यह हुआ कि स्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यता से तो अर्थावग्रह होता है और अस्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यता से व्यंजनावग्रह होता है । इस प्रकार दर्शन के बाद किसी के व्यंजनावग्रह होता है । उसकी धारा आगे नहीं चलती । किसी के अर्थावग्रह ज्ञान होता है, उसकी धारा आगे चल सकती है । यों अवग्रह के विषय में उपयोगी तथ्यों का विचार समाप्त हुआ ।

मतिविशेष के भेदरूप ईहाज्ञान प्रसार का निर्देश—अब ईहा नामक ज्ञान का विचार करने के लिए उपक्रम होता है । ईहाज्ञान कहते हैं उसे कि अवग्रह ज्ञान से गृहीत पदार्थ के विषय में जिज्ञासा की पूर्ति जैसे करता हो, ऐसा जो प्रारम्भिक निश्चय है उसे ईहा कहते हैं । तो ऐसा ईहा का विशेष विवरण जानना हो तो इसके सम्बन्ध में तीन विकल्प उठाये जाने चाहिए । क्या ईहाज्ञान मन से ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों के उभय से ही उत्पन्न होता है ? इन तीन विकल्पों में से यदि प्रथम विकल्प उपस्थित किया जाये कि ईहाज्ञान केवल मन से ही उत्पन्न होता है तो यह बात संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति हो रही है कि ईहा सभी इन्द्रिय के व्यापारों की अपेक्षा रखता है । आत्मा और इन्द्रिय का व्यापार न हो तो ईहा की उत्पत्ति नहीं होती । इस कारण ईहा केवल मन से ही उत्पन्न हो जाता, यह बात सही नहीं है । इसका कारण यह है कि ईहाज्ञान स्पष्ट ज्ञान है, केवल मन से होने वाला ज्ञान स्पष्ट नहीं होता । और दूसरा कारण यह है कि ईहाज्ञान इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञान के तुरन्त बाद होता है और अवग्रहज्ञान इन्द्रियज है । तो इस तरह ईहाज्ञान भी केवल मन से उत्पन्न हुआ न बनेगा । मन से जो मति बनती हैं वह मानसप्रत्यक्ष तो है, पर मानसप्रत्यक्ष सब ईहा नहीं कहलाते । मानसप्रत्यक्ष के अतिरिक्त भी सविकल्पज्ञान, निश्चयात्मक ज्ञान, ईहाज्ञान सम्भव हैं ।

ईहाज्ञान की अक्षजता, स्पष्टता व प्रमाणता के विषय में शंका व समाधान—यहाँ कोई क्षणिकवादी शंका करते हैं कि ईहाज्ञान में तो जाति, संबंध शब्दयोजना आदिक कल्पनायें नहीं बनती, इस कारण वह भ्रान्तिरहित भी है और इसी कारण ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप है, निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि जो भ्रान्तिरहित निर्विकल्प ज्ञान हो वह निश्चयस्वरूप नहीं हो सकता है । इस शङ्खा के समाधान में कहते हैं कि ईहाज्ञान मन से उत्पन्न हुआ मानसप्रत्यक्ष ही नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञान के बाद ही हो जाता है, इस कारण ईहाज्ञान निश्चयात्मक है, अगृहीतग्राही है, जानने वाले इसकी अपेक्षा रखते हैं । संशय, विपर्यय अदिक दोषों का निषेध करने वाला है तब वह ईहाज्ञान स्पष्ट है और निश्चायक है । वह केवल झूठा कल्पनारूप नहीं है । यह ईहाज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष से भी ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप प्रतीत होता है । इस कारण कल्पनारूप ज्ञान न समझना ईहाज्ञान को और ईहाज्ञान ही एक पर्याप्त है निर्णय की ओर ले जाने के लिए । वहाँ अन्य कल्पना करना व्यर्थ है । यदि ईहा को मन से उत्पन्न हुआ स्मरणज्ञान जैसा माना जायेगा तो फिर ईहा के बाद्य इन्द्रियजन्य ज्ञान से उत्पत्ति मानना, असम्भव हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान और मानसिक स्मरणज्ञान,

इन दोनों की जाति अलग-अलग है। विजातीय ज्ञान से अन्य ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, और अगर मान ली जाये तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानसप्रत्यक्ष का कारण पूर्ववर्ती इन्द्रियज्ञान हो गया। फिर तो इन दोनों में विशेषता ही न रहेगी।

यदि क्षणिकवादी यह कहें कि परमार्थ वस्तु को स्पष्ट विषय कर लेने से वह तो मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान के समान है तब तो यह बात हुई ना कि इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षपने से सजातीयता सिद्ध हो गई। चाहे इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हो, चाहे मानसिक प्रत्यक्ष हो, प्रत्यक्षपने की जाति से दोनों सजातीय हो गए और इस तरह से स्मरण और ईहा का उपादान कारण इन्द्रियज्ञान ज्ञान हो सकता है, क्योंकि ज्ञानपने से सजातीयता है और ऐसी सजातीयता यदि न मानी जाये तो स्मरण के साथ मानसिक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि सजातीयता भी न रही और फिर मानसप्रत्यक्ष को स्मरण का उपादान का कारण न माना जा सकेगा, फिर तो प्रसङ्ग यह है कि इन्द्रियज्ञान और स्मरण के बीच में मानसप्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है, इन्द्रियज्ञान से ही आगे स्मरण उत्पन्न हो जायेगा।

एक ही संतान में योग्यतानुसार विविध ज्ञानों का अभ्युदय—यदि क्षणिकवादी यह कहें कि यहाँ तो दो संतान हैं भिन्न-भिन्न, एक है स्मरणज्ञान की संतान दूसरी है इन्द्रियज्ञान की संतान, और इस कारण से स्मरण का उपादान कारण इन्द्रियज्ञान नहीं होता। इसका समाधान यह है कि फिर तो शङ्खाकार के यहाँ मानसप्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ रहा, क्योंकि दो संतान हो गई। इन्द्रियज्ञान ही धारा में इन्द्रियज्ञान चलेगा, स्मरणज्ञान की संतति में स्मरण से स्मरण चलता रहेगा। यदि इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान—इन दोनों को एक संतान स्वीकार लेंगे तब तो इन्द्रियज्ञान से स्मृति की उत्पत्ति बन जायेगी, फिर तो एक विशेषता का अन्तर ही रहा। वासनारहित इन्द्रियज्ञान से इन्द्रियज्ञान बनेगा और वासनासहित इन्द्रियज्ञान से स्मरणज्ञान बन जायेगा। सो दो संतान धारायें मानने पर यह दोष है कि कमी दोनों ही एक साथ बन जायें, क्योंकि भिन्न-भिन्न संतान हैं, इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान एक ही समय में हो जाना चाहिए, और फिर बीच में मानसिक ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ रहा, ये समस्त दोष स्याद्वाद में नहीं आते, क्योंकि ज्ञानावरण का क्षयोपशमरूप योग्यता ही सारी व्यवस्था बना लेती है। सजातीय, विजातीय ज्ञानों की एक संतान हो जाये, इन्द्रियज्ञान के बाद में स्मरण आवरण का क्षयोपशम हो, यों स्मरणज्ञान हो जायेगा, अन्यथा इन्द्रियज्ञान से इन्द्रियज्ञान बन जायेगा। एक चेतन की धारा में है यह सब ज्ञान। आवरण कर्म के क्षयोपशम के अनुहार ज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। जब क्षय हो जाता है तो उस ही एक संतान में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और कहो अवधिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण बने, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान का कारण बने। मनःपर्ययज्ञान का कारण बने, केवलज्ञान का कारण बने। एक संतान में इन सब ज्ञानों की योग्यतानुसार होने में कोई विरोध नहीं है। और इस प्रकार जब स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला मानसप्रत्यक्ष शंकाकार ने मान लिया, तब फिर इन्द्रियज्ञान निर्विकल्प कल्पनापोढ़ ज्ञान के मानने का प्रयोजन क्या रहा? जब मानसप्रत्यक्ष स्वपर का निर्णय बन गया तो इन्द्रियज्ञान निर्विकल्प ज्ञान मानना ऐसा व्यर्थ है, जैसे छेड़ी (बकरी) के गले में दो थन लगना व्यर्थ है।

ईहाज्ञान की इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तता, प्रत्यक्षपरोक्षरूपता व व्यक्तिशक्तिरूपता—यहाँ क्षणिकवादी यह कहते हैं कि अवग्रह आदिक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान हैं, उनकी उत्पत्ति इन्द्रियजन्य निर्विकल्प ज्ञान के न होने पर नहीं हो सकती। अगर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के बिना मानसप्रत्यक्ष हो जाने लगे तो जितने अंधे बहरे जीव हैं उनको भी मानसप्रत्यक्ष हो जाये। अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष की कल्पना एक सफल कल्पना है। इस शङ्खा के समाधान में कहते हैं कि बात तो ठीक है, पर उसे यों ही तो मानना पड़ा कि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से जिसकी उत्पत्ति होती है, जो स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला है ऐसा ज्ञान ही सब व्यवस्था करता है, इसी के मायने हैं कि ईहा आदिक ज्ञान। उक्त समस्त कथन का निष्कर्ष यह हुआ कि द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा क्रम से होते हैं और ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष के अनुसार उनकी क्रमशः उत्पत्ति होती है। क्षयोपशम विशेष ही इस ढंग का है कि इन ज्ञानों में इस क्रम का वह कारण है और वह ज्ञान एक ही समय में प्रत्यक्ष है, परोक्ष है, अपने ग्रहण की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और विषय अंश की अपेक्षा से परोक्ष है। यह ही ज्ञान उपयोगरूप व्यक्ति से सहित है और योग्यतारूप शक्ति से सहित है, इसी कारण ये एक अर्थ वाले हैं। कोई दार्शनिक शुद्ध-ज्ञान अंश को प्रत्यक्ष मानते, वेद्य वेदक अंशों से परोक्ष मानते, किन्तु इस तरह एक ज्ञान की प्रत्यक्षता परोक्षता नहीं है। स्वग्रहण की अपेक्षा प्रत्यक्ष है, विषयांश की अपेक्षा परोक्ष है। कोई दार्शनिक ज्ञानांश की व्यक्ति मानते हैं और वेद्य वेदक सम्बिति अंशों के विवेक के ज्ञान की शक्ति मानते हैं, पर ऐसी व्यक्ति शक्ति नहीं है। जो उपयोगरूप जानन है सो व्यक्ति है और जो क्षयोपशमरूप, लब्धिरूप योग्यता है सो शक्ति है, ऐसी लब्धि और उपयोगसहित अवग्रह ज्ञान, ईहाज्ञान आदि ये सब अर्थ की व्यवस्था करने में समर्थ हैं।

मतिविशेष के भेदरूप अवायज्ञान प्रमाण का निरूपण—मति विशेष के भेदों में जो अवायज्ञान बताया गया है उसका स्वरूप क्या है, उसको कहते हैं। सर्वप्रथम तो निर्विकल्प दर्शन हुआ था, उसके पश्चात् अवग्रहज्ञान हुआ। अवग्रहज्ञान में विशेषों को सामान्य रूप से जाना था। अब ईहाज्ञान में उसको और विशेषरूप से जाना। ईहाज्ञान का जानना आकांक्षा सहित है याने अवग्रहज्ञान से जानकर साथ ही जिज्ञासा बनती है कि क्या है? उस जिज्ञासा की पूर्ति के साथ-साथ जो विशेष ज्ञान हुआ वह ईहाज्ञान है, लेकिन ईहाज्ञान में जाना तो गया सही, फिर भी इसमें अवधारण नहीं है। जैसा कि वाक्यों का प्रयोग होता है, बन गए वाक्य और उसके साथ एव शब्द और लग जाये तो उसका अवधारण कहलाता है। एव न भी लगे तो भी कुछ वाच्य तो हैं ही और एव लगने से उसका पूर्ण निर्णय होता है। इसी प्रकार ईहाज्ञान में जाना तो गया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु, पर उसे जानने के पश्चात् सम्भव है कि संशय विपर्यय ज्ञान बन सकते हैं। ईहा स्वयं संशय नहीं है, न विपर्यय है, यह तो सम्यग्ज्ञान है, पर सम्भव है कि संशय विपर्यय हो सकता—इस ढंग का निश्चयात्मक ज्ञान है ईहा, पर उस ईहाज्ञान में जब निर्णय हो जाता, अवधारण बन गया कि यह ही है, ऐसा जो इन्द्रियज स्पष्ट ज्ञान है वह अवायज्ञान है। यह अवायज्ञान अवायज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है। अवाय ज्ञान के न होने पर ईहाज्ञान से जान लिये गये विषयों में किसी कारण संशय या विपर्यय ज्ञान भी हो सकता है। और अवायज्ञान होने पर

संशय विपर्यय नहीं हो सकता है, हो ही नहीं सकता । अवधारण है, इस तरह निश्चयात्मक होनेपर भी ईहाज्ञान से अवाय में अन्तर पाया जाता है ।

अवग्रहज्ञान ने जो जाना सो अपने अंश का निर्णय करा दिया । ईहाज्ञान ने जो जाना उसने अपने विशेष अंश का निर्णय करा दिया । अब इससे और आगे ऐसा दृढ़तम ज्ञान बने कि संशय विपर्यय न संभव हो सके, वह बात यहाँ तक न आ पायी थी । संशय विपर्यय की सम्भावना ही न रही, इस तरह का दृढ़तम ज्ञान हुआ है अवायज्ञान में । यों तो पदार्थों में अनेक विशेष अंश ऐसे पड़े हुए हैं कि जिनको बड़े-बड़े ज्ञान तो क्या, केवलज्ञान के सिवाय अन्य कोई भी नहीं जान सकता । फिर भी अपने-अपने विषय में निश्चय होता है और अवधारण होता है । यह अवायज्ञान संशय और विपर्यय ज्ञानों से उल्टे स्वभाव वाला है । अवाय के बाद संशय आदिक ज्ञानों की सम्भावना नहीं है, क्योंकि अवायज्ञान पूर्ण दृढ़ स्वरूप है । इन्द्रियजन्य ज्ञान तो ये सभी हैं, उसकी अपेक्षा से देखा जाये तो अवग्रह, ईहा और अवाय—तीनों एक जातीय हैं । चेतन आत्मा का क्रम से अवग्रह, ईहा, अवाय, ज्ञान रूप से परिणमन होता है । इन्द्रिय और आत्मा की सहायता से आत्मा तो जाननहार ही है, इन्द्रिय बलाधानरूप हैं, इस प्रकार क्रम करके हुई, और क्षयोपशम के अनुसार इन चार ज्ञानों को उत्पाद होता है, यह बात स्पष्ट अनुभव में आ रही है ।

गृहीत अर्थ में उपयोगविशेष होने के कारण अवाय व धारणा ज्ञान में सर्वथा गृहीतग्राहित्व न होने से स्पष्ट प्रमाणरूपता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखो जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया, उसके ग्रहण किए गए पदार्थ के ही विशेष अंश में ईहाज्ञान की प्रवृत्ति है । सो यों ईहाज्ञान तो कुछ विशेष ज्ञान है । यहाँ तक तो प्रमाणपने का निर्वाह ठीक हो सकता है, किन्तु अवायज्ञान तो ठीक उसी ही विषय को जान रहा जिस विषय में ईहाज्ञान की प्रवृत्ति हुई । और इसी तरह धारणा में भी वही विषय जाना जा रहा है जो ईहा द्वारा जाना गया था । तो अवाय और धारणा—ये दोनों ज्ञान गृहीतग्राही कहलाये और गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाते, इसलिए अवग्रह और ईहा ये दो भेद ही कहे जाने चाहिएँ थे । अवाय और धारणा न कहा जाना चाहिए था । इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि सम्यक् ईहा ज्ञान के द्वारा जाने गए अर्थ में अवाय और धारणा, इन दोनों की प्रवृत्ति हो रही है, ऐसा बताकर गृहीतग्राही कहकर अवाय और धारणा को यदि प्रमाण न माना जायेगा तब तो अनुमान प्रमाण न बन सकेगा या अनुमान प्रमाण अप्रमाणपने का व्यापार कर बैठेगा । अनुमान अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि अब तो यह नियम बना दिया शङ्काकार ने कि किसी प्रमाण से गृहीत अर्थ को ग्रहण करे वह ज्ञान गृहीतग्राही है और अप्रमाण है । तो यों अनुमान अप्रमाण हो जायेगा क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्ति ज्ञान से ग्रहण किए गए विषय को ही चलता है और इस तरह तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक सभी अप्रमाण हो जायेंगे, इसलिए सर्वथा एकान्त यह न करना चाहिए कि किसी ज्ञान के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थ का ग्रहण करे वह अप्रमाण है । भले ही किसी प्रमाण के द्वारा ग्रहण किया गया, लेकिन उसमें कुछ नवीनता आये तो गृहीतग्राही का दोष नहीं माना जाता, और वहाँ भी देखे गए पदार्थ भी स्मरण हो जाने के कारण अदृष्ट के समान हो जाते हैं । इसी तरह ग्रहण किए गए पदार्थ में भी विशेष-विशेष अंशों को ग्रहण करने से वह गृहीतग्राही नहीं रहता, किन्तु प्रमाण हो जाता है ।

अवाय और धारणा ज्ञान में भी यही कला है। भले ही जिस ही पदार्थ को दर्शन ने देखा उस ही को अवग्रह ने जाना, उस ही को ईहा ने जाना, उस ही को अवाय ने और उस ही को धारणा ने जाना, लेकिन इन सब ज्ञानों का उत्तरोत्तर विषय विशेष और स्पष्ट होता जा रहा है। अवाय और धारणा ज्ञान भी स्व और अर्थ को जानने में सही है अतएव प्रमाण हैं। गृहीत का ग्रहण तो किया मगर अब विशेष उपयोग बन रहा, जिन अंशों का अवग्रह और ईहा ज्ञान ने स्पर्श भी न किया था उन विशेषों का उपयोग अवाय और धारणा ज्ञान में हो रहा। जैसे ईहाज्ञान तो इतने दर्जे में जान रहा था कि जो संशय विपर्यय आदिक का कारण बन सकता था, अर्थात् संशय विपर्यय ज्ञान के लिए भी तो बुद्धि चाहिए। इतनी बुद्धि की पात्रता ईहा ज्ञान तक आ जाती है। तो ईहा ज्ञान तो समारोप के कारणपने को करके जान रहा था, उस प्रकार अवाय तो नहीं जानता, क्योंकि अवाय ज्ञान अपने विषय को जानने में अत्यन्त दृढ़ है। ईशा ज्ञान होने के बाद संशय, विपर्यय हो सकता है, अवाय ज्ञान होने के बाद संशय विपर्यय की सम्भावना ही नहीं। तो इसमें उपयोग विशेष नहीं आया क्या? और अवाय से धारणा में क्या विशेषता है कि अवाय से जान लेने पर कदाचित् विस्मरण हो सकता है, उसका स्मरण न आये मगर धारणा ज्ञान से जान कर उसका विस्मरण नहीं होता। धारणा ज्ञान विस्मरण के अभावरूप के कारणपने से जान रहा है, याने अवायज्ञान तो विस्मरण का कारण हुए पन से उस पदार्थ को जानता है, पर धारणाज्ञान उस तरह नहीं जानता। कालान्तर में विस्मरण न होने देने का कारण बने—इस ढंग से जानता है। इस कारण अवायज्ञान से धारणाज्ञान में विशेष उपयोग हुआ। तब ही तो बताया है कि स्मरण का कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्षों में धारणा।

परोक्षज्ञानों में कारणकार्यरूपता की एक विहंगमदृष्टि—अब प्रथम और द्वितीय सूत्र को याने ‘अवग्रहेअवायधारणा’ और ‘मतिस्मृतिः’ आदिक इनको एक जगह कर कारणपने की बात सोचें तो यों देखा जायेगा कि अनुमान ज्ञान का जनक तो है तर्क, तर्क का जनक है प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान का जनक है स्मरण, स्मरण का जनक है धारणाज्ञान, धारणा का जनक है अवाय, अवाय का जनक ईहा, ईहा का जनक अवग्रह और अवग्रह उत्पन्न हुआ दर्शन के बाद। किसी भी पदार्थ को जाना, उसमें कोई त्रुटि रह गई, उसे भी जान ले तो यह गृहीतग्राही न कहलायेगा, किन्तु विशेष अंश को ग्रहण करने वाला कहलाया। इस प्रकार मतिविशेष नाम का जो ज्ञान है, जिसका दूसरा नाम सिद्धान्त ग्रन्थों में आभिनिबोधिक कहा है उसके ये चार भेद कहे गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

इनका साधारणरूप से यह दृष्टान्त हो सकता है कि जाते हुए सामने कोई मनुष्य देखा तो पहले कुछ है इस तरह का प्रतिभास तो है दर्शन, जो मनुष्य है ऐसा प्रतिभास हुआ मानो अवग्रह। अब कैसा है, कौन है? एक ऐसी आकांक्षा की पूर्तिसी करता हुआ जो यह ज्ञान हुआ कि यह तो मराठा है, यह ज्ञान ठीक चल तो रहा है, पर यहाँ अवधारणरूप दृढ़ता नहीं, सो इतने ज्ञान के बाद संशय भी हो सकता, यही है कि नहीं। तो संशय होकर फिर संशय का निवारण हो तब अवाय कहलाये, ऐसा तो नहीं है, मगर ईहाज्ञान की विशेषता कहा है कि वह ऐसी स्थिति में है ज्ञान। उस ईहाज्ञान ने जाना कि यह मराठा है और उसकी दृढ़ता हो जाती है कि यह मराठा ही है। जिसमें संशय, विपर्यय का अवकाश ही नहीं रहना, ऐसा दृढ़ ज्ञान अवायज्ञान कहलाता है

। और जो जाना, मराठा ही है, उसे फिर भूले नहीं, स्मरण कर सके, ऐसे दृढ़तम ज्ञान को कहते हैं धारणाज्ञान । इस प्रकार आगे के प्रमाण की उत्पत्ति के साधनभूत मतिविशेष के ये चार भेद बताये गए हैं । यहाँ तक जाना कि पदार्थ इस प्रकार होते । अब यह समझना है कि ये चार ज्ञान जिस पदार्थ को जानते हैं वह क्या पदार्थ है, इसका विषयभूत क्या है? उसका उत्तर अब अगले सूत्र में देते हैं ।

सूत्र 16

बहुबहुविधक्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुकृत, ध्रुव तथा इनसे विपरीत अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त व अध्रुव—इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा अवाय व धारणा ज्ञान होता है । यहाँ अवग्रह आदि शब्दों में धातु से कृत् प्रत्यय लगने से बहु आदि विषयों को षष्ठी विभक्ति में रखा है, किन्तु मौलिक अर्थ है बहु, आदिक को अवग्रहता है, ईहता है इत्यादि अर्थात् जानता है । अवग्रह आदि शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अवग्रहाति, ईहते, अवैति, धारयति । इन गणी धातुओं में कृत् प्रत्यय लगाकर ‘इनको जानता है’ इस अर्थ को प्रतिपादने में षष्ठी विभक्ति लगाई गई है । इसी कारण यह भी शङ्खा नहीं करनी चाहिये कि ज्ञानों का विषय तो आगे ‘मतिश्रुतयोर्निबन्धो’ इत्यादि सूत्रों में कहा जावेगा ही तब बहुबहुविध आदि सूत्र का कहना व्यर्थ है । यह शंका यों ठीक नहीं, कि इस सूत्र में विषय प्रतिपादन की मुख्यता नहीं है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा—इन चारों ज्ञानों के प्रमेद बताने का प्रयोजन है । ये चार ज्ञान १२-१२ प्रकार के होते हैं । इस प्रकार यहाँ तक मतिविशेष के ४८ भेद होते हैं । इन्हीं को निमित्त से भेद करने पर और अवग्रह के अर्थावग्रह व व्यञ्जनावग्रह को पृथक्-पृथक् समझने पर इस प्रकार मतिविशेष के भेद हो जाते हैं—व्यञ्जनावग्रह के $12 \times 4 = 48$, क्योंकि व्यञ्जनावग्रह स्पर्शन, रसना, ग्राण व श्रोत्र—इन चार इन्द्रियों के ही निमित्त से होता है, चक्षु व मन के निमित्त से नहीं । अर्थावग्रह के $12 \times 6 = 72$, व ईहा के $12 \times 6 = 72$, अवाय के $12 \times 6 = 72$ व धारणा के $12 \times 6 = 72$, इस प्रकार सब $48 + 72 + 72 + 72 = 336$ भेद मतिविशेष याने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के हो जाते हैं ।

बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रहण ईहन आदि करने की निष्पत्ति—मतिविशेष के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार भेद, ये ज्ञान बहु आदिक पदार्थों को जानते हैं । यदि केवल अवग्रहण आदि क्रिया का कर्म है बहु आदिक इतना ध्यान रखकर, इसको द्वितीया विभक्ति में कहते तो लाघव तो हो जाता, किन्तु समझ में कठिन हो जाता, क्योंकि पूर्व सूत्र में कृत् प्रत्यय लगाकर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा कहा । अगर क्रियारूप में प्रयोग होता उन चारों का तब तो द्वितीया विभक्ति भी लगाने पर इस प्रकृत सूत्र में अर्थ सूकर हो जाता, लेकिन कोई ऐसा सोचे कि अब कृदन्त याने कृतप्रत्यान्त शब्दों से परिवर्तित कर बुद्धि में क्रियारूप बना लिया जाये और ऐसी स्थिति में इस सूत्र में द्वितीया विभक्ति कर दी जाये तो लाघव हो जायेगा सो बात संगत नहीं है, क्योंकि लाघव की हर जगह टेव रखना अच्छी बात नहीं है । जहाँ गौरव है वहाँ लघुता बतावो तो लोक में भी उत्तम नहीं माना जाता ।

जैसे कोई लोकव्यवहार में ऐसा लाघव करे कि मान लो कोई अतिथि आया और उसे वस्त्र देना है धोती, चादर, साड़ी वगैरा और वस्त्र न देकर देवे बिनौले के १००-५० बीज और कहे कि देखो हम वस्त्रों का भार न देकर वस्त्रों का बीज दे रहे, जिससे वस्त्र उत्पन्न होते हैं तो इस लघुता को कोई पसंद करेगा क्या? और वही पुरुष जिस पुरुष से बिनौले भेंट पाकर धोखा खाया जा चुका है तो यहाँ धोखा खाने वाले के घर अतिथि बनकर आये और वह भोजन में एक-एक अंगुल के गन्ने की गाँठ परोस दे और कहे कि देखो हम मीठे का बीज आपको दे रहे हैं तो क्या वह प्रसन्न हो जायेगा? लाघव जहाँ योग्य है सो ठीक है। यहाँ चूँकि कृत् प्रत्यय में यह शब्द है वहाँ पष्ठी में प्रयोग होना उत्तम रहता है अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये बहु आदिक पदार्थों के होते हैं।

अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बहु बहुविध आदिक जो १२ प्रकार बताये गए हैं वे तो हैं अवग्रह आदिक के कर्म तो इन कर्मों को और अवग्रहण आदिक क्रियाविशेष का परस्पर सम्बंध किस प्रकार है? इस बात को सुनो। बहु बहुविध आदिक १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रहण होता, ईहन होता, अवाय होता, धारण होता, ये प्रत्येक अलग-अलग भेद हैं। भले ही कोई अवग्रह बहु को जान रहा, एकविध को जान रहा, क्षिप्रादिक को जान रहा, एक साथ जान रहा, तो यह क्षयोपशम विशेष की बात है, मगर सम्बंध लिए है प्रत्येक एक-एक के साथ, और फिर चाहे कुछ अवग्रहादिक क्रिया के विषय ३ भी हों, ४ भी हों, यह बात अलग है, मगर नियमरूप से तो यहाँ प्रत्येक के साथ सम्बंध करना है। समुदाय रूप से सम्बंध न करना। जिस आत्मा के जब-जब क्षयोपशमविशेष होता है तो संख्याविशेष के रूप में बहुत का ज्ञान कर लेता है या अधिक प्रमाण वाले विपुल पदार्थ का अवग्रह कर लेता है, इसी प्रकार और विशेष क्षयोपशम होने से इन्हीं बहुतों की ईहा कर लेता है, अवायज्ञान और धारणज्ञान कर लेता है। इसी तरह प्रत्येक के साथ समझना चाहिए। एक का कर लेना, एकविध का कर लेना, बहुविध का कर लेना, इन १२ प्रकार के पदार्थों में चार प्रकार के ज्ञान हुआ करते हैं।

बहु बहुविध आदि पदार्थों के स्वरूप का संक्षिप्त लक्षण—अब तहाँ इन १२ प्रकारों का थोड़ासा अर्थ समझना है जिसके आधार पर इनमें कुछ अन्तर समझा जाता है। बहु का ज्ञान अर्थात् बहुत पदार्थों का ज्ञान, विपुल प्रमाण वाले का ज्ञान, विपुल प्रमाण के रूप से देख को तो वहाँ क्षेत्र में बहुता बनी, बहुता दिखी और जहाँ संख्या विशेष से देखा वहाँ व्यक्तिसः बहु दिखा। तो बहुत पदार्थों का ज्ञान होना सो बहु अवग्रह है और बहु प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना, यह बहुविध अवग्रह है। क्षिप्र शीघ्र निकल जाने वाले पदार्थों का अथवा पदार्थों का शीघ्रता से ज्ञान कर लेना, अवग्रह कर लेना, क्षिप्रहावग्रह है। कोई पदार्थ पुद्गल उसके अङ्ग पूरे निकले नहीं हैं, एक ही कोई अंग प्रकट है वहाँ चूँकि सब गुप्त हैं। तो कुछ ही अंगों को देखकर उस सम्पूर्ण अवयवी का ज्ञान कर लेना, यह अनिःसृतावग्रह है। कोई बात कोई कहना चाहता है, कह न सका और बिना ही उसके कहे हुए यह सब कुछ जाना गया, यह उक्तावग्रह है अथवा कोई फलादिक दिखा तो देखने में तो रूप ही आया, पर रूप के दिखने के ही साथ मिठास है कि खटास है, ऐसे रसों का, ज्ञान कर लेना तो ऐसा अवग्रह करना भी अनुक्तावग्रह हो गया। जो पदार्थ अचलित हैं उन पदार्थों का ज्ञान करना ध्रुवावग्रह है। इसी प्रकार इसके उल्टे का भी ज्ञान करना, जैसे एक का ज्ञान करे, अवग्रह करे एकावग्रह है। एक प्रकार के पदार्थों का

ज्ञान करे, जैसे गेहुंवों का ढेर रखा वह सब एक प्रकार को है, यह एक विधावग्रह है। देरी से ज्ञान कर सकना या धीरे से निकालने वाले पदार्थ का ज्ञान करना यह **अक्षिप्रावग्रह** है। पूर्ण प्रकट पुद्गल का ज्ञान करन। यह निःसृतावग्रह है। कहे हुए का ज्ञान करना, अवग्रह करना यह उक्तावग्रह है और अध्रुव पदार्थ का, नाशशील पदार्थ का ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है। इस तरह १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह होता, ईहा होता, अवाय होता, धारणा होता।

बहु बहुविध आदि धर्मों में परस्पर अन्तर का प्रदर्शन—अब एक बात यहाँ और समझनी है कि इनका परस्पर में अन्तर क्या है? जैसे बहु और बहुविध कुछ एकसी बात जंचती है इनमें अन्तर क्या है? अन्तर यह है कि बहु का ज्ञान होता है तो वह व्यक्ति के आश्रय से होता है, और बहुविध का ज्ञान होता है तो वह जाति के आश्रय से होता है। तो बहुज्ञान व्यक्त्याश्रित है, बहुज्ञान जात्याश्रित है। यह इनमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार इसका उल्टा है एक और एकविध। एक का ज्ञान करना व्यक्त्याश्रित है, एकविध का ज्ञान करना जात्याश्रित है। मायने एक ही जाति के पदार्थों का ज्ञान यह है एकविध ज्ञान। तो इस प्रकार इनमें अंतर हैं।

अब यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा कर सकता है कि वह बहुविध का भेद तो आया, मगर बहुत और एकविध में क्या भेद है? क्योंकि जैसे बहुत से गेहुं रखे हैं तो बहुत भी हो गए और एक ही प्रकार के हैं वे एकविध भी हो गए, तो इसमें क्या भेद है? हाँ भेद है। क्या भेद है कि जहाँ बहुत कहा वहाँ तो जाति की ओर रंच भी दृष्टि नहीं है और एक व्यक्ति की ओर ही दृष्टि है। और एकविध कहा तो एक प्रकार की केवल जाति की ओर दृष्टि है। भले ही वे एक प्रकार के बहुत हैं, पर एकविध ज्ञान में उन बहुतों जैसी प्रतीति की मुद्रा नहीं है, तो एकविध जब कहा जाता तो वहाँ बहुतपने का व्यवहार नहीं होता। इस प्रकार बहु बहुविध, एक एकविध इन चार का परस्पर में एक दूसरे से अन्तर आता है।

अब जिज्ञासा होगी कि इस सूत्र में क्षिप्र और अध्रुव शब्द पड़ा है। क्षिप्र का अर्थ है शीघ्रकाल का और चलित स्वरूप अध्रुव कहलाता, तो वह भी सदा रहने का नहीं है। तो एक समान जैसे हो गया तो क्षिप्र और अध्रुव में क्या अन्तर है? अन्तर यह है कि क्षिप्र में तो शीघ्र ही जानने को विषय हो जाना पन है। क्षिप्र ज्ञान मायने शीघ्र ही बोध हो गया और अध्रुवज्ञान में, चरितपने की अनियत पदार्थों की जानकारी होती है ऐसा विषय पड़ा है। यों समझिये कि क्षिप्र तो ज्ञान का विशेषण बनकर भेद बनता है और अध्रुव में अर्थ का विशेषण बनकर इसका ज्ञान बनता है। अब निःसृत और उक्त में क्या अन्तर है, इस बात पर ध्यान देना है। निःसृत क्या कहलाता है? सम्पूर्ण पुद्गल का एकदम प्रकट रूप होना, बाहर निकला हुआ रहना, यह तो निःसृत होता है और अनिःसृत वह कहलाता है कि उस एक पदार्थ में कुछ अंशों के निकलने से जो ज्ञान बनता है वह अनिःसृत है और अनुकूल कहलाता है, अभिप्रायों से जान लिया, न भी कहे तो भी अभिप्राय से जान लिया, वह कहलाता है अनुकूल का ज्ञान और पूर्णरूप से कह दे वह कहलाता है उक्त। तो अब यहाँ कोई यों पूछे कि उक्त में और निःसृत में क्या अन्तर है? उक्त में भी यही बात आयी कि पूर्ण कह दिया, निःसृत में भी यही बात आयी कि पूर्ण निकला हुआ है। तो सम्पूर्ण शब्दों का मुख द्वारा निःसरण हुआ तब सुनने से एक कर्णइन्द्रियजन्य ज्ञान बना तो उसे भी निःसृत ज्ञान ही कह देना चाहिए। उक्त ज्ञान भी इसी प्रकार से है।

समाधान यह है कि दूसरे के उपदेशपूर्वक शब्दजन्य वाच्य का ग्रहण होना सो तो उक्त का ज्ञान है, स्वतः उनका ग्रहण होना वह निःसृत है। उक्त में भी यद्यपि एक तरह से निकला हुआ ही है शब्द और निःसृत पदार्थों में जैसे जो कुछ पूरे दिख रहे हैं मनुष्य, पशु आदिक वे भी निकले हुए हैं, लेकिन निःसृत में तो स्वयं ज्ञान कर लो। निकले का ज्ञान कर लिया, पर उक्त में तो दूसरा कुछ कहे, उसके कथन से जन्य है यह उक्त और उसका ज्ञान करना कहलाता है उक्तज्ञान। तो शब्दजन्य वाच्य का ग्रहण है उपदेशपूर्वक, उसे तो उक्त बोलते हैं और जो स्वतः ग्रहण हो गया वह निःसृत है। इस प्रकार अनिःसृत और अनुकृत की बात समझना है। अनिःसृत के मायने है कोई पदार्थ पूरा नहीं निकला, कुछ ही हिस्से को देखकर उस पदार्थ का ज्ञान कर लेना। जैसे जल में कोई हाथी डूबा है, केवल ऊपर एक सूंड मात्र ही निकली है तो जरासी सूंड देखकर हाथी का ज्ञान कर लेना, यह अनिःसृत मतिज्ञान है, और बाहर खड़ा है पूरा, उसे जान रहा है वह हाथी का ज्ञान निःसृत ज्ञान है। तो अनुकृत में तो अभिप्रायवश जानकारी होती है और उसमें परोपदेश का कोई सम्बंध है, कुछ, भी थोड़ा कहा, उससे जाना, किन्तु अनिःसृत में तो स्वतः ग्रहण करने जैसी बात है, और फिर इन सबका एक-एक रूप से ज्ञान होना, यह तो कहा ही है, पर दो का मिलकर, चार का मिलकर भी हुआ ज्ञान वह भी मतिविशेष ही है। जो एकविध निःसृत क्षिप्र एक ही ज्ञान में सब आ रहे हों तो भी इसमें कोई अनिष्ट बात नहीं है।

सूत्र में बहुबहुविध आदि शब्दों को प्रधानता देने के कारण की जिज्ञासा व उसका समाधान—अब यहाँ एक आशंका होती कि जो सूत्र रचना की गई है उसमें मुख्यरूप से बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुकृत और ध्रुव, ये छः बातें कही हैं तो यह तो पूरे-पूरे शब्दों में कहा गया है और शेष ६ को इतर शब्द डालकर इससे उल्टा बताकर उनसे उल्टी ६ बातें कहीं तो जाती है, मगर प्रयोग की कला ऐसी है कि जिससे पूरे शब्दों में बोला है वे तो हो गए प्रधान और बाकी जो ६ हैं, जिनको एक इतर शब्द से ग्रहण किया गया है वे हो गए गौण। तो उनको प्रधान बताने का क्या कारण है? कहीं इससे उल्टी तरह क्यों नहीं कह दिया? यों भी सूत्र बना सकते थे कि “एकएकविधाक्षिप्रनिःसृतोउक्ताअध्रुवाणां सेतराणां” याने जिनको गौण किया है उनको प्रधानरूप से सूत्र में रखते और शेष को इतर शब्द से ग्रहण करते, ऐसा न कहकर बहु आदिकों को ही प्रधानता क्यों दी गई है? और एक बात और भी साथ है कि अगर एक-एकविध आदिक शब्द लिखते तो इसमें उनकी अपेक्षा लाघव भी है। किसी का अर्थविषयक लाघव है। एक तो बहुत एक-एक ही बहु, तो गुरु हो गया, एक लघु बन गया। किसी में एक घनकृत लाघव है, और जानने की भी सुगमता है। बहुत को जानना एक बड़ा काम है, एक को जानना छोटा काम है। तो लाघव की बात पहले रखते और बाकी को इतर शब्द में गर्भित करते, ऐसा क्यों नहीं किया? और भी देखो—धीरे-धीरे किसी को जानना, यह तो एक सरलसा काम है और बहुत शीघ्र जान लेना यह कुछ दुष्कर काम है। तो अक्षिप्र तो सुगम कहलाता और क्षिप्र ज्ञान कुछ दुष्कर रहा तो क्यों नहीं सुगमता का पहले शब्दों से कथन करते? सूत्र में अनिःसृत शब्द दिया है, और निःसृत को इतर शब्द से कहा है। अब सब जान सकते हैं कि निःसृत का ज्ञान करना तो सुगम है और अनिःसृत का ज्ञान करना दुष्कर है। फिर निःसृत को ही बोलते सूत्र में कंठेक्त पूरे शब्द से। ऐसे ही उक्त अनुकृत में समझियेगा। सूत्र में अयुक्त शब्द दिया है याने अभिप्रायवश न कहे को समझ लेना, यह तो बड़ा काम हुआ और पूरे कहें को समझ लेना,

यह तो बहुत सुगम है, फिर सूत्र में उक्त का शब्द देते, अनुक्त को इतर में डालते। इसी प्रकार ध्रुव का निश्चय करते, ध्रुव के निर्णय करने की अपेक्षा अध्रुव का निर्णय करना सुगम होता है, तो सुगम विधि में तो अध्रुव को पहले कहना चाहिए, फिर ऐसा प्रयोग न कर बहु आदिक का पहले प्रयोग किया है, इसका क्या रहस्य है? रहस्य यह है कि यह समझना चाहिए कि सूत्र में लो कंठोक्त शब्द दिये गये हैं, उनके बाच्य अर्थ के परिज्ञान में ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम चाहिए और उस विशेष क्षयोपशम से बहु आदिक ज्ञानों की उत्पत्ति होती है, और फिर जो विशेष समझा उसको फिर उनका विशेषण जैसा बनकर एक-एकविध आदिक का ज्ञान बहुत अच्छी तरह बन जाता है। तो जो बड़े क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान से पदार्थ का निर्णय करता है उसके लिए फिर बहुत ही सुगम है कि वह एक-एक विश्व आदिक का ज्ञान कर ले। आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है और वह अपने इस ज्ञानबल का प्रयोग क्यों न ऊँचे से करे? यही आशय रखकर इस सूत्र में बहु आदिक का पूरे शब्दों से जिक्र किया है और एक एकविध आदिक का इतर शब्दों में अन्तर्गतरूप से परिचय कराया है।

प्रकरणोक्त विषयों के स्वरूप का पुनः स्मरण—प्रकरण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के विवरण का चल रहा है। जो इन्द्रिय और मन के द्वारा हम आप लोगों को जानकारी होती है वह सब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उसके चार भेद कहे गए—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा याने प्रथम-प्रथम ही किसी वस्तु के दर्शन के बाद जो सामान्यतया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का बोध होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। अवग्रह ज्ञान से जानने के बाद उस ही वस्तु में कुछ विशेष का परिचय होना ईहाज्ञान है, फिर उस विषय का अवधारण होना कि यह पदार्थ वही ही है सो अवाय है। फिर इसका इतना दृढ़ परिचय हो जाना कि भविष्य में भूल न सके इसको धारणा ज्ञान कहते हैं। तो ये चार प्रकार के ज्ञान किस प्रकार के पदार्थों को जानते हैं, इसका विवरण इस सूत्र में किया गया है।

कोई ज्ञान बहुत पदार्थों को जाता है, जैसे नगर, बाजार, घर, सभा या अनेक प्रकार की फैली हुई चीजें, एक ही घर में रखी पचासों चीजें। इन सबको कोई ज्ञान जान लेता है ना, तो इस ही का नाम है बहुज्ञान याने बहुत पदार्थों को जान लेवे ऐसे ज्ञान को बहुज्ञान कहते हैं। एक ही ज्ञान से जान लिए गए वे सब पदार्थ। कहीं ऐसा नहीं है कि उन बहुत पदार्थों को क्रम-क्रम से जाना हो। जैसे एक चटाई को जान लिया और चटाई में सींकें अनेक हैं तो कहीं ऐसा नहीं हो रहा कि एक-एक सींक को जाना जा रहा हो क्रम से और इस तरह से चटाई को जान पाते हों, किन्तु एक ही निगाह में उन सब पदार्थों को जान लेते हैं। तो इसका नाम हैं बहुज्ञान। और चीजें बहुत रखी हैं, अनेक तरह की रखी हैं उन अनेक चीजों को जाति की दृष्टि से जानना कि ये तो अनेक प्रकार की चीजें हैं, जैसे गेहूं, चना, मूँग ये बहुत से अनाज मिल गए, अब मिले हुए अनाज को देख रहे तो बहुत दाने भी जानने में आ रहे और यह भी जानने में आ रहा कि ये तो बहुत प्रकार के अनाज हैं, तो ऐसे भी ज्ञान हुआ करते हैं जिनमें जाति की दृष्टि से जान लिया जाता है कि ये बहुत प्रकार के पदार्थ हैं, इसको कहते हैं बहुविध ज्ञान याने बहुत प्रकार के पदार्थों को जान लेना यह कहलाया बहुविध ज्ञान।

कोई ज्ञान क्षिप्र ही जाने लेता है। क्षिप्र मायने जल्दी। जल्दी की जानकारी को कहते हैं क्षिप्रज्ञान। जैसे कई बालक होते हैं, विद्यार्थी पढ़ते हैं, एक विद्यार्थी तो किसी बात को इट समझ लेता है और कोई विद्यार्थी किसी बात को बहुत देर तक दिमाग लगाने पर समझना है तो जानकारी में यह अंतर है ना। तो जो इट समझ लेता है उसके ज्ञान का नाम है क्षिप्रज्ञान और जो देरी से समझता है उसके ज्ञान का नाम है अक्षिप्रज्ञान। तो ऐसा भी तो ज्ञान होता है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में तो यह कहलाया क्षिप्रज्ञान जो जल्दी समझ में आये। कोई ज्ञान अप्रकट पदार्थ को भी जान लेता है। याने पदार्थ का कोई हिस्सा देखने में आया, अब उस हिस्से के परिचय के साथ ही पूरे पदार्थ का ज्ञान बन जाता है।

जैसे तालाब में एक हाथी डूबा है, उसकी केवल सूंड बाहर निकली है। उस सूंड को देखते ही हाथी है ऐसा जो ज्ञान बनता है उसका नाम है अनिःसृत ज्ञान। तो अनिःसृत का भी ज्ञान होता है, उसका भी निर्देश इस सूत्र में किया है।

कोई ज्ञान बिना कहे को ही जान लेता है। कोई पुरुष कुछ कहने को ही था, दो शब्द ही बोल सका कि उसकी टोन और शब्द की विधि जानकर तुरंत सब समझ गए कि यह, यह कहना चाहता है। तो इस तरह अनुकूल की भी तो जानकारी चलती है, इसका नाम है अनुकूलज्ञान। और कोई ज्ञान ध्रुव को जानता है याने जो पदार्थ स्थायी है, वही है, चलित नहीं है उसे जानता है। जैसे मकान, खम्भा, अलमारी आदि जो चीजें स्थिर हैं उन्हें भी जानता है। तो ऐसे ज्ञान का नाम है ध्रुवज्ञान।

सूत्र में संकेतित इतर शब्द से गृहीत एक एकविध आदि धर्मों के स्वरूप का स्मरण—जैसे उक्त ६ प्रकार के पदार्थों की जानकारी होती, है, इसी प्रकार इससे उल्टों की भी जानकारी चलती है। अर्थात् जैसे किसी को बहुत का ज्ञान होता है तो किसी को एक का भी ज्ञान होता है। एक पुस्तक, एक केला, एक फल, यों एक का भी ज्ञान चलता है। तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की विशेषता में यह बतलाया जा रहा है कि १२ प्रकार के पदार्थों का जीवों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है। तो ७वाँ प्रकार है यह एक को जानना, एक ज्ञान, और ८वाँ प्रकार यह है कि एक प्रकार के पदार्थ की भी जानकारी होती है। जैसे गेहुंवों का ढेर लगा है तो जान तो गए बहुत, मगर बहुत है, ऐसी दृष्टि नहीं है अभी और यह दृष्टि है कि यह सब एक ही प्रकार की चीज है। तो एक ही प्रकार की है यह सब, इस तरह की जानकारी का नाम है एकविधज्ञान। ९ वें प्रकार में यह बताया है कि कोई ज्ञान देरी-देरी से जानता है, बहुत देर में समझ में बात आती है।

जैसे कि बताया गया था कि कोई विद्यार्थी किसी बात को बहुत देर में समझ पाता। सामने कोई चीज आयी हो तो उसे कोई तो तुरन्त जान लेता है, कोई धीरे-धीरे परख बनाकर जान पाता है। तो जो देर से जानकारी बनती है उसे कहते हैं अक्षिप्रज्ञान। १०वां प्रकार है निःसृत ज्ञान का याने पूरा प्रकट पदार्थ है, निकला हुआ है, सामने है, स्पष्ट है, उसे जान गए। तो यह कहलाता है निःसृत ज्ञान। ११वां प्रकार है उक्त ज्ञान का याने पूरा बोल दिया और उसका मतलब समझ गए। तो पूरे कहे गए को जानना, यह है उक्तज्ञान। और १२ वां प्रकार है अध्रुवज्ञान का। याने कोई चीज जो स्थिर नहीं हो रही उसकी जानकारी हो गई। जैसे बिजली चमकी, उसकी जानकारी बन गई, तो बिजली स्थिर चीज तो नहीं। तुरन्त ही तेजी से कोई चीज निकल गई,

उसका ज्ञान हुआ तो वह स्थिर तो न रही। थोड़ी देर ही सामने आयी तो उसका ज्ञान कहलाया अध्रुव ज्ञान। तो इस प्रकार इन १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह होता है, ईहा होती है, अवाय होता है, धारणा होती, है, यह इस सूत्र में कहा जा रहा है।

बहु बहुविध आदि का क्रम रखे जाने का कारण—इस विषय में एक जिज्ञासा होती है कि सूत्र में इन १२ बातों का, शब्दों का कथन तो किया गया है, मगर ६ शब्द तो सूत्र में दिये। बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुकृत और ध्रुव और इससे उल्टी जो ६ बातें हैं उनका नाम नहीं दिया, और सेतर यह शब्द करके बता दिया। सेतर का अर्थ है—स इतर। स मायने सहित, इतर मायने उल्टे याने इन ६ के एवज के उल्टे जो हुए वे ६ और ले-लें। तो इसका तो समाधान हो गया था कि इन ६ का जो नाम लिया सो क्यों? और उन ६ को इतर में शामिल कर लिया सो क्यों? तो उत्तर यह आया थी कि जिनका नाम लिया गया वह ज्ञान कुछ बड़ा है याने उन ६ प्रकार के पदार्थों का ज्ञान बड़ी योग्यता हो तब होता है, इसलिए पहले काम लिया, लेकिन अब यह जानना चाहिए कि जो ६ नाम दिये बहु बहुविध आदिक उनको इस ही क्रम से क्यों रखा? जैसा चाहे बोल देते, पहले बहुविध बोलते, फिर बहु बोलते, और और तरह बोलते। ऐसा ही क्रम रखने का क्या कारण है?

अब इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं। जो ये ६ शब्द रखे हैं उनके क्रम का यह कारण है कि पहले भेद के ज्ञान में योग्यता ज्यादा चाहिए और उसके बाद के जो दूसरे, तीसरे, चौथे, पांच, छठवें प्रकार का ज्ञान चलता है उसमें उत्तरोत्तर योग्यता कम भी हो तो भी जानकारी बनती है। जैसे इन ६ को उल्टे नम्बर से समझिये। छठवाँ ज्ञान है ध्रुवज्ञान। जो स्थिर है, सामने है उसका ज्ञान किया। तो ऐसी जानकारी बड़ी आसानी से होती है लोगों को और उसकी अपेक्षा वे भेद वाले के ज्ञान में याने अनुकृत के ज्ञान में कुछ ज्यादा योग्यता से जानकारी बनती, याने कोई पुरुष बात को पूरा न कह सका और आशय को जान लिया गया तो ऐसे अनुकृत का ज्ञान करनी, उस ध्रुवज्ञान से तो बड़ी जानकारी का ज्ञान हुआ ना?

अब देखिये चौथे नम्बर का ज्ञान। उसका नाम है अनिःसृत ज्ञान याने पदार्थ निकला हुआ नहीं है और उसे जान गए तो अनुकृत ज्ञान से भी थोड़ी ज्यादा योग्यता चाहिए अनिःसृत का ज्ञान करने के लिए। अब तीसरे प्रकार का ज्ञान देखिये—इसका नाम है क्षिप्रज्ञान, याने झट जानकारी कर लेना। तो अनिःसृत ज्ञान से भी अधिक योग्यता चाहिए क्षिप्रज्ञान में। कोई बालक किसी बात को झट जान लेता है तो इसमें विशेष योग्यता चाहिए और उससे अधिक योग्यता चाहिए बहुविध ज्ञान में। बहुत प्रकार के पदार्थों की जानकारी चल रही है, और उससे अधिक प्रशंसनीय और बहुविद्वत्ता की बात होती हैं बहुज्ञान में। तो ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम की बात है तो ऐसी बड़ी योग्यता का क्रम ज्ञान का निरखकर इन शब्दों का क्रम रखा है।

ज्ञान की पूज्यता का अर्थधर्मों में आरोप—यहाँ कोई कहता है कि ज्ञान ही तो पूज्य है। जो ऊँचा ज्ञान है सो पूज्य है, जो हल्की योग्यता का ज्ञान है सो उससे कम है। तो ज्ञानों की बात तो कह लो, पर इन शब्दों में तो पूज्यता नहीं, जिनके ज्ञानों का क्रम बना रहे। जो बड़ी योग्यता का ज्ञान है उसे पहले बोलें, पर शब्दों में तो पूज्यता नहीं होती। शब्द तो कैसे ही रख लो।

तो उत्तर यह है कि इन पदार्थों के विषय का ज्ञान है, ऐसा सम्बंध होने के कारण इन शब्दों में भी पूज्यता

का आरोप किया जाता है। जैसे कोई कहने लगे कि भगवान मोक्ष गए, सो भगवान तो पूज्य हैं, क्योंकि वह आत्मा वीतराग है, सर्वज्ञ है, पर जो मूर्ति बनाते हैं भगवान की वह तो पाषाण है, उसमें पूज्यता क्यों आती है? पूज्यता तो पवित्र आत्मा में है। तो वहाँ भी यही समाधान होता है कि चूँकि उन पवित्र आत्मा की स्थापना की है मूर्ति में सो इस कल्पना के नाते से पाषाण की मूर्ति भी पूज्य बनती है। तो ऐसे ही इन ६ शब्दों द्वारा उन ६ प्रकार के ज्ञानों की बात समझायी जा रही है। इसलिए जैसे ज्ञान पूज्य है तो ये पदार्थ भी पूज्य हैं, इस तरह का आरोप है।

एक ज्ञान द्वारा बहुत पदार्थों के ज्ञान की संभवता—अब यहाँ एक दार्शनिक शंका करता है कि अभी जो यह कथन किया गया नाना प्रकार से कि कोई ज्ञान बहुत को जानता है, कोई ज्ञान बहुत प्रकार के पदार्थों को जानता है, सो यह बात सही नहीं जंचती, क्योंकि एक ज्ञान बहुत पदार्थों को जान ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान होता है प्रत्येक पदार्थ से निकला हुआ। तो जिस पदार्थ से ज्ञान निकला वह ज्ञान उस ही एक पदार्थ को जानेगा। कोई भी ज्ञान बहुत पदार्थों को नहीं जान सकता और इसी प्रकार से जब बहुत को ज्ञान नहीं जान सकता तो बहुत प्रकार के पदार्थों को भी नहीं जान सकता, इसलिए यह अवग्रह आदिक १२ प्रकार के पदार्थों को जानता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है।

एक ही ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की संभवता पर शंका व समाधान—अब इस शंका के समाधान में अधिक कहना यों व्यर्थ है कि जब सामने प्रतीतिसिद्ध तत्त्व प्रसिद्ध हो रहा है कि एक ज्ञान बहुत को जान लेता है,, यह घास पड़ी है, पुराल पड़ा है, इसमें कितनी सींकें हैं? इसमें उन सब सींकों को एक साथ ही तो कोई ज्ञान जान रहा, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है, फिर उसके लिए समझाने की ज्यादा दिमाग पच्ची करना व्यर्थ है। अब यहाँ कोई कहे कि चाहे पुराल भरा पड़ा है तो इनमें से एक-एक सींक से एक-एक ज्ञान निकलकर एक-एक को ही जान रहा है, यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। एक का भी ज्ञान हुआ करता है एक ज्ञान के द्वारा और एक ज्ञान द्वारा बहुत का भी ज्ञान हुआ करता है।

अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि वास्तविक बात तो यह है कि जो अनेक चीजें जान रहे हैं, ये अनेक सींके जानी जा रही हैं सो एक प्रत्यक्ष नहीं है। यहाँ जितनी सींके हैं, जितने पदार्थ हैं उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान बन गए और इस तरह एक ज्ञान एक ही पदार्थ को जान रहा, वे पदार्थ अनेक हैं तो ज्ञान भी अनेक हो रहे हैं। तो लोगों को यह बोध क्यों हो रहा है कि देखो एक ही बार में एक ही ज्ञान से जान लिया, यह तो भ्रम हो रहा है, क्योंकि शीघ्र-शीघ्र वे ज्ञान चल रहे हैं, इससे ऐसा लगता है कि ये सब एक साथ जाने जा रहे, एक ज्ञान द्वारा जाने जा रहे हैं। जाने जा रहे हैं अनेक ज्ञानों द्वारा अनेक पदार्थ, पर क्रम हो जाता।

इस शङ्का के समाधान में यह पूछा जाना योग्य है कि शङ्काकार यह बताये कि अनेक प्रत्यक्षों द्वारा इन अनेकों का ज्ञान हो रहा, ऐसा कहने वाले यह बतायें कि उन अनेक प्रत्यक्षों का उन्हें ज्ञान हो रहा क्या? याने अनेक ज्ञान हैं जो इन अनेकों को जानते हैं, तो इसमें अनेक ज्ञान हैं—यह ज्ञान कैसे हुआ? अगर कहो कि उन अनेक ज्ञानों को जानने के लिए अनेक ज्ञान और पैदा हो जायेंगे तो उनके लिए और चाहिए, यों अनवस्था दोष आता है। यह पूछा जा रहा है कि शङ्काकार जो यह कहता है कि ये अनेक सींके रखी हैं, इनका जो ज्ञान हो रहा

है सो जितनी सींके हैं उतने ज्ञान हो रहे । याने अनेक ज्ञानों से बहुत पदार्थ जाने जा रहे हैं तो यह पूछा जा रहा है कि उन अनेक ज्ञानों का ज्ञान कैसे हो रहा? अनेक ज्ञानों से तो होगा नहीं, उसके दोष तो बता दिये । अगर वे यह कहें कि अनेक सींकों को जानने के लिए अनेक ज्ञानों की आवश्यकता हुई, सो उन अनेक ज्ञानों को एक ज्ञान ने जान लिया तो वाह बड़े गजब को बात है, उन अनेक ज्ञानों को जानने के लिए एक ज्ञान ही काफी रहा । और यहाँ अनेक पदार्थों को जानने के लिए एक ज्ञान मानते नहीं । सो सीधा ही समझना चाहिए कि ऐसे भी ज्ञान की विशेषता होती है, एक ज्ञान अनेक पदार्थों को जान लेता है ।

ज्ञेय अर्थों की बहुता होने से ज्ञान की एकता न मानने पर दोषापत्तियां—अब वही शङ्काकार फिर कह रहा है कि जो यह पूछा गया था कि अनेक पदार्थों को जानने वाले अनेक ज्ञान कैसे जाने जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि वे सब स्वयं जान लिए जाते हैं । अनेक सींके पड़ी है, उन्हें अनेक ज्ञानों ने जाना । उन अनेक ज्ञानों का ज्ञान खुद हो जाया करता है । तो क्षणिकवादी शङ्काकार का यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिकवादियों का तो यह सिद्धान्त है ना कि क्षण-क्षण में नया-नया आत्मा बनता है, क्षण-क्षण में नया-नया ज्ञान बनता है । तो इस सिद्धान्त के अनुसार जो इन अनेक सींकों का अनेक ज्ञान बताया जाता इसके मायने यह हुए कि अनेक आत्माओं का वह ज्ञान है, तो जब अनेक आत्माओं द्वारा इन अनेक सींकों का ज्ञान हुआ तो उन अनेक ज्ञानों में एकपने का अनुसंधान नहीं बन सकता याने जैसे यह अनुसंधान चलता है सबका अपनी-अपनी बात का कि जिस मुझने अभी छुवा था वही मैं अब सूंघ रहा हूँ, उस ही का मैं विचार कर रहा हूँ, तो एक आत्मा में तो उन अनेक ज्ञानों का अनुसंधान बनता, एकपना बनता, धारा बनती, पर अनेक आत्मा अनेक ज्ञान करले, उन सब ज्ञानों में एक ज्ञानपने का अनुसंधान नहीं बन सकता, इसलिए यह बात भी नहीं बनती कि उन अनेक ज्ञानों की स्वतः उत्पत्ति हो जाये । तब सीधा यही मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थों का ज्ञान कर लेता है ।

अब क्षणिकवादी शंकाकार ही कह रहे हैं कि अभी-अभी जो यह दोष दिया कि अनेक पदार्थों के अनेक ज्ञानों में अनुसंधान न बन सकेगा कि जो ही अभी जाना था, मैंने जाना था वही मैं अब इसे जान रहा हूँ, क्योंकि ऐसे अनुसंधान बिना एक ज्ञान न बन पायेगा, सो यह अनुसंधान बनता है । कैसे? इन अनेक सींकों का जो अनेक ज्ञान हुआ, उसके बाद जो विकल्पज्ञान जगता है उस विकल्प ज्ञान से अनुसंधान बन जायेगा । यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिकवादियों के सिद्धान्त में जिस ज्ञान के बाद विकल्पज्ञान बना वह विकल्पज्ञान उस ही एक पदार्थ में अनुसंधान करता, मायने एकपना लाता । तो विकल्पज्ञान से भी उन अनेक ज्ञानों में एक ज्ञान की बात नहीं बनती । इससे भाई जिस तरह एक विकल्पज्ञान से बहुत ज्ञानों का जानना मान रहे हो तो सीधा ही मान लो ना कि एक ही ज्ञान कोई ऐसा होता है कि जो बहुत पदार्थों को और बहुत प्रकार के पदार्थों को जान लेता है । भारी तोड़-मरोड़ का परिश्रम करने से लाभ क्या है?

संख्या व संख्यावान का भेद बताकर बहुज्ञान की इन्कारी का रास्ता ढूँढने का व्यर्थ प्रयास—कोई दूसरा दार्शनिक कहता है कि किसी को भी बहुत पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, किन्तु बहुत संख्या का ज्ञान होता है, याने जैसे १२ केले रखे हैं तो १२ केलों का ज्ञान नहीं हो रहा, किन्तु केले की १२ संख्या का ज्ञान हो रहा ।

समाधान में इतना कहना ही पर्याप्त है कि वाह रे गजब की बात, कैसा बुद्धि से तोड़ा गया कि १२ केलों का ज्ञान नहीं, किन्तु केलों की १२ संख्या का ज्ञान है। और छोटे बच्चे से लेकर बड़े बूढ़े तक वे १२ जो रखे हुए केले हैं उनका ज्ञान हो रहा कि नहीं? उनकी जो १२ संख्या है तो क्या वह संख्या अलग धरी है पिटारे में? संख्या से संख्यावान की भिन्नता-नहीं होती। वे केले १२ हैं और उनमें उनकी संख्या बतायी जा रही है। संख्या से संख्यावान की भिन्नता-नहीं होती। वे केले १२ हैं और उनमें उनकी संख्या बतायी जा रही है, किन्तु केले की १२ संख्या का ज्ञान है—यह सब व्यर्थ की कल्पना है। जिस किसी भी पदार्थ को देखते तो सारे पदार्थ जानने में आ गए। सबको स्पष्ट है कि बहुत पदार्थों का ज्ञान हो रहा। अगर इस तरह बहुत पदार्थों का ज्ञान न माना जाये तो फिर नगर का, वन का ज्ञान ही न हो सकेगा, क्योंकि नगर एक चीज तो नहीं, बहुत चीजों का समुदाय है। वन एक चीज नहीं, बहुतसी चीजों का समुदाय है। इस कारण यह मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थों की जानकारी कर लेता है।

यदि शङ्काकार दार्शनिक ऐसा मान लें कि जैसे सर्वज्ञ योगी का ज्ञान बहुत प्रकार के पदार्थों का जानने वाला है, जैसे कि सहस्र किरण वाला सूर्य एक ही साथ अनेक पदार्थों का प्रतिभास कर देने वाला है, ऐसा यदि मानें तो यह तो उचित ही है। सभी का ज्ञान ऐसा ही है, अन्तर आवरण का है। जिसके जितना आवरण का क्षयोपशम हो वह उतनी अवधि में पदार्थों को एक साथ जान लेता है।

पूर्व ज्ञानों की स्मृति की सहायता से उत्तर उत्तर ज्ञानों से जानकर बहुज्ञान सिद्ध करने का निष्फल प्रयास—यदि शङ्काकार दार्शनिक यह कहे कि सर्वज्ञ के ज्ञान की बात दूसरी है। यहाँ हम लोगों को जो प्रत्यक्ष हो रहा है और अनेक पदार्थों का ज्ञान हो रहा है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थ का एक ज्ञान, लेकिन पूर्वज्ञान को स्मरण की मदद लेकर दूसरा ज्ञान चलता है और इस तरह मदद ले लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान चलता है और तब यह परिचय बनता है कि बहुत पदार्थों को जान लिया। जैसे कि वाक्यज्ञान में भी ऐसा ही होता है जैसे एक वाक्य एक पंक्ति में लिखा है या एक पद ५-७ अक्षरों का है तो वे अक्षर जाने तो जा रहे हैं क्रम से और उस शब्द का भाव क्या है यह समझा जाता है, तब जब आखिरी अक्षर पढ़ लिया जाता है। तो वहाँ वह भाव केवल आखिरी शब्द में तो नहीं बसा और न किसी एक-एक अक्षर में बसा, किन्तु पूर्व अक्षर पढ़े, उसे स्मरण में रखे, फिर दूसरे अक्षर पढ़े, उन्हें भी स्मरण में रखे, फिर तीसरे पढ़े, इस तरह मानो ७ अक्षर का पद हो तो इस तरह उसका भाव आता है। तो अर्थ यह ही हुआ ना कि पहले के अक्षरों का स्मरण हो, उसकी सहायता पाकर आखिरी अक्षर का ज्ञान करे, इसी तरह बहुत से पदार्थों का जो ज्ञान होता है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थ का अलग-अलग ज्ञान, पर वह उत्तरोत्तर ज्ञान पूर्व-पूर्व ज्ञान का स्मरण पाकर बढ़ जाता है और उन बहुत पदार्थों में जो आखिरी पदार्थ का ज्ञान है उसके होते ही यह स्पष्ट होता है कि मैंने बहुत को जान लिया, ऐसा दार्शनिकों का कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष विदित हो रहा है कि बहुत पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह स्मरण की मदद लेकर नहीं होता, किन्तु सीधा ही बहुत पदार्थ हैं तो उनको ज्ञान हो जाता है। तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि स्मृति की मदद लेकर इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है बहुत का ज्ञान, तो वे यह बतायें कि बहुत और बहुविध आदिक पदार्थों में जो अवग्रहज्ञान होता है होता तो है इन्द्रिय से, मगर क्या वह स्मरण

सापेक्ष इन्द्रिय से जाना जाता है या स्मरण निरपेक्ष इन्द्रिय से जाना जाता है?

यदि शङ्खाकार यह कहे कि स्मरण निरपेक्ष इन्द्रिय से जाना जाता है तब तो सही ही बात कह रहे और जब स्मृति की बात नहीं लेते इन्द्रिय से पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। तो यह क्षयोपशम विशेष की ही तो बात है कि बहुत पदार्थों का अवग्रहादिक हो जाता है। यदि दार्शनिक यह कहें कि नहीं, स्मरण सापेक्ष होकर ही इन्द्रियां बहुत आदिक पदार्थों को जानती हैं याने एक पदार्थ को जाना, उसका स्मरण रख लिया। इस तरह याद कर-करके पदार्थों को जानता है और जहाँ सब जान लिया गया तब ऐसा लगता है कि मैंने बहुत पदार्थों को एक साथ जान लिया। तो इस तरह अगर स्मरण सापेक्ष होकर इन्द्रिय जानती हैं, यह बात कहेंगे तो यह बिल्कुल असंगत है, प्रतीति से विरुद्ध है और यह भी समझें कि कोई पुरुष यदि नये पदार्थों को जानता है जिन पदार्थों को कभी जाना ही न था, ऐसे बहुत पदार्थों को जानता है तो वहाँ तो स्मरण की गुञ्जाइश भी नहीं। स्मरण तो तब ही होता है कि जब पदार्थों को पहले जान लिया हो, बाद में देखे तो स्मरण हो। या बिना देखे भी स्मरण हो, पर जो पदार्थ नवीन हैं उनको देखकर ही एकदम बहुत का ज्ञान हो जाता है, इसलिए अवग्रहादिक ज्ञान स्मृति सापेक्ष इन्द्रिय से नहीं उत्पन्न होते, किन्तु स्मृति निरपेक्ष ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बनता है। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि बहुत, बहु प्रकार के अनेकों का ज्ञान एक ही ज्ञान के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

बहु बहुविध आदि पदार्थों के स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों की संभवता—जैसे बहुत-बहुत आदिक पदार्थों के विषय में इन्द्रियज ज्ञान होता है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा नाम के ज्ञान होते हैं, इसी प्रकार १२ प्रकार के अर्थों में ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक ज्ञान भी हुआ करते हैं, क्योंकि इन १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार ज्ञान होते हैं। यहाँ तक तो शङ्खाकार को मानना ही पड़ा। अब धारणाज्ञान के द्वारा जब उन पदार्थों का दृढ़तम अवधारण हो गया तो फिर उन्हीं अर्थों में स्मरण आदिक ज्ञान भी होते हैं यह अनुभव सिद्ध है, प्रतीति सिद्ध है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अन्यथा अर्थात् यदि इन १२ प्रकार का पदार्थों का स्मरणज्ञान न माना जाये तो सारी लोकप्रवृत्ति नष्ट हो जायेगी, क्योंकि जितना भी लोक का व्यवहार है, सम्बन्ध है, प्रवर्तन है, वह स्मृति के आधार पर चल रहा है। और ऐसे ही १२ प्रकार के पदार्थों की स्मृतियाँ चल रही हैं तो उस पर होने वाला जो व्यवहार है वह व्यवहार खल्म हो जायेगा। होता तो नहीं, इस कारण यह मानना चाहिए कि १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा तो होता है पर इनके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक भी होते हैं। यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि मतिविशेष के चार प्रकार हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये १२ प्रकार के पदार्थों का ज्ञान करते हैं।

पदार्थों के उत्पादव्ययप्रौद्यात्मक होने से उनके सब प्रकारों की ज्ञेयता—प्रकरण मतिविशेष का है इसलिए उसकी ही बात गायी जा रही है। उस प्रसंग में क्षणिकवादी शंकाकार कहता है कि इन १२ प्रकार के पदार्थों में से कुछ ऐसे भी नाम हैं कि जिनका ज्ञान असम्भव है। जैसे क्षिप्रज्ञान कहा सो यह तो ठीक है, पदार्थ क्षणिक हैं, एक ही समय ठहरते हैं और तुरन्त ही ज्ञान न हो तो फिर कभी ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जब पदार्थ ही न रहा तो ज्ञान कहाँ से होगा? इसलिए क्षिप्रज्ञान, तुरन्त ज्ञान यह तो सम्भव है, परन्तु अक्षिप्र

अवग्रह याने देरी से जानना यह सम्भव नहीं, क्योंकि जानने में देर लगाओगे तब तक पदार्थ निपट ही चुका, क्योंकि सर्व पदार्थ क्षणिक ही होते हैं, फिर कुछ भी ज्ञान करेगे वह सब मिथ्या है। जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थ एक क्षण ही ठहरा करते हैं, इसलिए पदार्थ का क्षिप्रज्ञान तो होता है। जब एक क्षण से अधिक काल तक कोई पदार्थ नहीं स्थिर रहता तो अक्षिप्रज्ञान कैसे सम्भव है?

इस शङ्का के समाधान में विचार करें कि क्या पदार्थ सब क्षणिक ही हैं? अनुभव तो कहता है कि पदार्थ क्षणिक नहीं, किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सहित हैं, याने पदार्थ प्रतिक्षण नवीन पर्याय से उत्पन्न होते हैं, पूर्व पर्याय से विलीन होते हैं और द्रव्यस्वभाव से स्थिर रहा करते हैं। तो पदार्थ क्षणिक ही हों यह तो है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन धर्मों से सहित हैं। अण-अणु जो भी सत् है वह सब उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है तो उसमें यह भी बात आयी ना कि पदार्थ कालान्तर तक ठहरता हुआ ध्रुवरूप है। हाँ सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से एक-एक पर्याय भले ही एक-एक समय तक ही रहती जानी जाती है, किन्तु व्यवहारनय से या प्रमाण द्वारा यह जाना जा रहा है कि वस्तु अधिक काल तक ठहरती है। वस्तु तो एक ही है, पर्याय तो उसके एक क्षण का अंश है, पर वस्तु तो सदा रहने वाला है। तो इस तरह जब वस्तु बहुत काल तक ठहरती है तो उसका? ज्ञान होना युक्त ही है।

अब दूसरा शङ्काकार कहता है कि हाँ ठीक कहा जा रहा है कि वस्तु सदा काल रहती है और वह ध्रुव है, अपरिणामी है, कूटस्थ है, इस कारण से अक्षिप्र, अवग्रह तो सही है, किन्तु क्षिप्र, अवग्रह ठीक नहीं हैं, याने पदार्थ को कई समयों में जान पाना यह बात ठीक बैठती है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक भी संगत मंतव्य नहीं रखते, कारण कि पदार्थ जैसा एकान्ततः क्षणिक नहीं है इसी प्रकार पदार्थ एकान्ततः कूटस्थ भी नहीं है। जो पदार्थ कालान्तर तक एक से दिखते रहते हैं उनमें भी जैसे सूर्य, चन्द्र, वज्र, हीरा जैसे कठोर पदार्थों में भी प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व अवस्थायें बनती रहती हैं। परमाणुओं का खिरना, अन्य परमाणुओं का आना और तत्कृत जो अवस्थायें हैं वे भिन्न-भिन्न रहती हैं। इससे पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है, अतएव ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार क्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते हैं और अक्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते हैं तो बहु बहुविवादिक अनेक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना विरुद्ध नहीं है। चैंकि पदार्थ उत्पादव्ययधौव्यात्मक है, अतएव शीघ्र अवग्रह हो जाना, शीघ्र ईहा, अवाय आदिक हो जाना जैसे सम्भव है उसी तरह अक्षिप्र अवग्रह हो जाना, अक्षिप्र, ईहा आदिक हो जाना भी सम्भव है।

अप्राप्यकारी चक्षु और मन से अनिःसृत ज्ञान व अनुकूलज्ञान होने की असंभवता का शङ्काकार द्वारा उद्घाटन— अब इस प्रसंग में कोई शङ्काकार दार्शनिक कहता है कि देखिये जो प्रत्यक्षज्ञान होता है वह इन्द्रिय और पदार्थों का संयोग पाकर होता है। किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बने, सम्बंध करके होता है। उसमें से दो साधन ऐसे हैं चक्षु और मनके, जिनके द्वारा पदार्थों का संयोग न हो तो भी ज्ञान हो जाता है। जैसे छूना तब ही बनता है जब पदार्थ का सम्बंध बने। यह पदार्थ ठंडा है या गर्म है—यह ज्ञान तब होता है जब पदार्थ को छुवें। खट्टा मीठा रस का अवग्रह आदिक तब होता है जब उन रसों का, रसवान पदार्थों का रसना से सम्बंध बने। सूंघना

भी ऐसे ही बनता है। चाहे नाक सुगंधित पदार्थों के पास जाये, चाहे सुगंधित पदार्थ के सूक्ष्म स्कंध नाक के पास आयें, जब सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। कर्णेन्द्रिय से भी ऐसा ही है कि जब शब्द कर्ण से सम्बन्धित हों तब ज्ञान होता है, मगर चक्षु में तो यह बात नहीं है कि एक पदार्थ के पास जाये, भिड़े तब ज्ञान हो, और मन की भी यह बात नहीं कि मन उस पदार्थ के साथ भिड़े तब ज्ञान हो। तो जब साधन की यह विशेषता है तो अनिःसृत और अनुकृत पदार्थ का याने जो पदार्थ पूरा निकला नहीं, जैसे जल में डूबा हुआ हाथी है और जो बात पूरी कही नहीं गई, ऐसे पदार्थों का ज्ञान चाराङ्दिय से कैसे हो सकता? याने स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण जो इन्द्रियों पदार्थों को छूकर जानती हैं उन इन्द्रियों के द्वारा अनिःसृत और अनुकृत पदार्थ कैसे जाना जायेगा? क्योंकि जो निकला नहीं है उसको इन्द्रियों छू नहीं सकतीं। जो कहा नहीं गया उसका कर्ण से संबंध कैसे बन सकता? तो चार इन्द्रिय का सम्बंध अनिःसृत और अनुकृत पदार्थों के साथ नहीं हो सकता, इस कारण जो भिड़कर जानने वाली चार इन्द्रियों हैं उनके द्वारा अनिःसृत और अनुकृत अर्थ का अवग्रह, इहाँ आदिक न होंगे। यदि स्पर्शन आदिक के द्वारा अनिःसृत और अनुकृत पदार्थों का ज्ञान अवग्रह आदिक मान लिया जाये तो यह भी अप्राप्यकारी हो जायेगा, याने जैसे आंख और मन पदार्थ से भिड़े बिना जान लेते हैं उसी तरह स्पर्शन आदिक भी पदार्थ से भिड़े बिना जान लेवें, फिर तो जैसे मिठाई खाना है, बस बाजार में खड़ा हो जाये और मिठाई का स्वाद लेता रहे, क्योंकि अब तो बिना भिड़े ही स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण से तुमने विषय को जानना मान लिया। भले ही पेट न भरे, पर आनन्द तो उसे आ जायेगा, पर ऐसा होता नहीं। चार इन्द्रियों—स्पर्शन, रसना घ्राण और कर्ण ये तो पदार्थों से भिड़कर ही जानते हैं और चक्षु एवं मन ये भिड़कर नहीं जानते। तब ही तो यह व्यवस्था रखी है कि चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि उनसे स्पष्ट ज्ञान ही बनता है।

योग्य देशावस्थिति प्राप्तिरूप संबंध के कारण सर्व पदार्थों के ज्ञानों की व्यवस्था बताते हुए समाधान—शङ्काकार का ऐसा कहना संगत नहीं है। कारण कि यहाँ इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध प्राप्तिरूप है, भिड़ने और न भिड़ने से मतलब नहीं है। सो अनिःसृत पदार्थ और अनुकृत पदार्थ की भी उनके सूक्ष्म अंशों को कई जगह से प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन जाता है। जैसे जल में हाथी डूबा है और दिख रही केवल सूँड और उसी समय डूबे हुए उस ही हाथी के सब अवयवों का जाननरूप, प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन रहा है और भी बातें देखी जाती हैं, चार हाथ दूर आग रखी है और हम स्पर्शन इन्द्रिय से उसकी गर्मी समझ लेते हैं तो सूक्ष्म अंशों से उस फैली हुई अग्नि को छू लेते हैं। अग्नि का पिण्ड नहीं फैला, पर अग्नि का निमित्त पाकर पास के स्कंध गर्म हो गए, जो दिख नहीं सकते, सूक्ष्म हैं। कोई अंशों में गर्मी है तो वे उष्ण स्कंध भी तो अग्निस्वरूप ही माने गए हैं। और भी देख सकते हैं—दूर पर कोई खटाई कूट रही है तो उसके खट्टेपन का ज्ञान भी तो हो जाता है। कोई सूक्ष्म अंशों से रसना द्वारा संसर्ग बन गया, कोई सुगंधित पदार्थ रखा है, इत्रादिक दूर रखा है, पर इत्र के उस सम्बन्ध से छोटे-छोटे अश भी वहाँ की सुगंध रूप परिणम जाते हैं और नासिका द्वारा उन अंशों की प्राप्ति बन जाती है तो लो अनिःसृत पदार्थों की गंध को भी सूंघ लिया। किसी को पता ही नहीं कि इत्र धरा कहां, और सुगंध ले ली जाती है। बहुत दूर पौद्गालिक शब्द हो रहे, पर पास के अनेक छोटे-छोटे अवयवों

से फैल-फैलकर कान तक आ जाते हैं और सुनाई देने लगते हैं। तो चार इन्द्रियां जब प्राप्यकारीपन की रक्षा भी कर रहीं और उनके द्वारा अनिःसृत और अनुकूल पदार्थों का अवग्रहादिक ज्ञान भी हो रहा तो सम्पूर्ण पदार्थों की ऐसी ही कला है कि उनकी परिणामिक लहरें चारों ओर फैलती हैं अर्थात् उनका निमित्त पाकर पास का स्कंध समुदाय इसके अनुरूप परिणम जाता है।

जैसे चमकदार पदार्थों के निमित्त से निकट निकटवर्ती पदार्थ चमक जाते हैं, दुर्गम्भित वायु होने से पदार्थ दुर्गम्भित हो जाते हैं। और की तो बात ही क्या, कहीं-कहीं तो छोटे-छोटे बच्चों का खेल या नाटक या कुछ गोष्ठी हो रही हो और उस बीच में कोई गम्भीर विद्वान् भी बैठा हो तो भी उसमें कुछ बचपन जैसा प्रवर्तन बन जाता है। अथवा विद्वान् बैठा हो तो छोटे-छोटे बालकों में भी कुछ गम्भीरता आ ही जाती है। तो ऐसे ही ये पदार्थ जो चार इन्द्रिय के विषयभूत हैं वे पदार्थ भी किसी न किसी रूप से इन्द्रिय से सम्बंधित होकर ज्ञात हो जाते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। तब वह समझना कि बहु आदिक १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार प्रकार के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होते हैं। अनिःसृत और अनुकूल में जो शंका उठायी गई थी कि इनका ज्ञान प्राप्यकारी चार इन्द्रियां कैसे कर लेगा? सो यह बात है कि किन्हीं भी अंशों से इनका सम्बन्ध होता है। पूर्णभावना से न हो फिर भी किन्हीं-किन्हीं अंशों से सम्बन्ध होता है और अवग्रह ज्ञान आदिक बन जाते हैं और इस दृष्टि से चक्षु में और अन्य इन्द्रियों में अन्तर है। चक्षु का तो सभी प्रकार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं बनता है, किन्तु अभिसुख हो तो वे असम्बद्ध अर्थ को ज्ञान लेती हैं। इस दृष्टि से चक्षु को अप्राप्यकारी कहा। वहाँ अन्य इन्द्रियों के अर्थ की भाँति सूक्ष्म अंशों से नेत्र में भिड़ जायें, ऐसा सम्बन्ध नहीं, बल्कि भिड़ जायें तो देखने में बाधा ही आयेगी। तो जो इन्द्रिय जिस विधि से ज्ञान करने का कारण बनती है उस विधि से कारण है। होता सबका ज्ञान है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि बहु, बहुविधि, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुकूल, अध्रुव और इनसे उल्टा एक एकविधि, अक्षिप्र, निःसृत उक्त और ध्रुव, इन १२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार प्रकार के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होते हैं।

योग्यदेशावस्थितिक प्राप्तिरूप सम्बन्ध से इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने के तथ्य का पुनः स्मरण—प्रकरण यह चल रहा है कि अनिःसृत और अनुरक्त पदार्थों का अवग्रहादिक कैसे हो जाता है? तो उत्तर यह दिया गया था कि अनिःसृत और अनुकूल पदार्थों के विषय में भी किसी न किसी अवयव रूप से इन्द्रिय मन का प्राप्तिरूप सम्बन्ध बन जाता है। यहाँ प्राप्ति का अर्थ है योग्य देश में पदार्थ का स्थित रहना, भिड़ना मिलना यह अर्थ नहीं है। सो जो पदार्थ अनिःसृत है, पूरा प्रकट नहीं है उसका कोई ही अवयव निकला है तो इतने का ही प्राप्तिरूप सम्बन्ध बन जाने पर अवयवी का जो ज्ञान कर लिया जाता है वह अनिःसृतावग्रह है। इसी प्रकार किसी ने कोई बात कह न पायी पूरी, थोड़ी ही कही, मगर उसका चेहरा मुद्रा आंख से देखकर पहिचान ली जाती है कि इसका अभिप्राय यह है। तो कुछ अवयवों का सम्बन्ध बना उससे ज्ञान लिया गया। तो इस तरह अनिःसृत और अनुकूल का भी अवग्रह होना सम्भव है।

ज्ञान की योग्यता व ज्ञेय की उत्पादव्ययधौव्यात्मकता से विविध ज्ञानों की सिद्धि—सूत्र में यह बताया है कि बहु, बहुविधि, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुकूल और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविधि, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त एवं

ध्रुव इन १२ प्रकार के पदार्थों का याने इन १२ धर्मों से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है। सो यह बात भली-भांति प्रतीतिसिद्ध है। जो लोग ऐसी शङ्का रखते थे कि पदार्थ क्षणिक है, इसलिए ध्रुव का अवग्रह न होगा। कोई कहते थे कि पदार्थ नित्य है, सदा अपरिणामी है, इस कारण अध्रुव का अवग्रह न होगा, यह उनकी मान्यता गलत है क्योंकि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। नित्यानित्यात्मक है पदार्थ, ऐसा सुनकर कोई शंका करने लगे तब तो विरोध हो ही गया, उसी को नित्य कहा, उसी को अनित्य कहा। सो यह भी सोचना सही नहीं है, क्योंकि जिस दृष्टि से नित्य कहा उसी दृष्टि से अनित्य कहा जाये तब तो विरोध है, पर नित्य की दृष्टि दूसरी है, अनित्य की दृष्टि दूसरी है, ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में अवस्थान देखा जाता है। पदार्थ नित्य है द्रव्यदृष्टि में। चूँकि सत्त्व सदा रहेगा, इस कारण से नित्य है और अनित्य है पर्यायदृष्टि से।

जो अवस्था जिस क्षण है वह अवस्था अगले क्षण नहीं होती, ऐसा प्राकृतिक नियम है। भले ही चाहे कई पदार्थ एकसा ही काम कर रहे हैं, पर जो पहले समय में काम है दूसरे समय में नहीं। दूसरे समय में अन्य है। यदि पहला ही काम आगे ही रहा, ऐसा माना जाये तो इसके मायने हैं कि हो ही नहीं रहा। जो काम था वही रहा और रहा भी क्या? तो वस्तु फिर अवस्थाशून्य हो जायेगी, अपरिणामी हो जायेगी। एक ज्ञान के द्वारा भगवान् प्रतिक्षण तीन लोक तीन काल को जानते रहते हैं। पहले सब कुछ जान लिया, कुछ दूसरे समय का वही सब कुछ जाना जा रहा। असत् तो जाना नहीं जाता। सत् सब थे, सब जाने गए। दूसरे समय में भी सन् सत् जाने गए। लेकिन पहले समय की शक्ति से, परिणति से पहले समय में जाना, दूसरे समय की परिणति से दूसरे समय में जाना, इस कारण अवस्था प्रतिक्षण नवीन-नवीन प्रत्येक पदार्थ में होती है, और इस दृष्टि से पदार्थ अनित्य है। तो यहाँ कोई यह भी न कहे कि जैसे ध्रुव का अवग्रह कैसे? मेरू पर्वत आदिक ये ध्रुव हैं और उनका ज्ञान होता है तो वह तो ध्रुव ही है, अध्रुव तो न रहे, और जो अध्रुव चीज है, जैसे बिजली तड़की वह अध्रुव ही तो रही, ध्रुव तो न रही, तो नित्यानित्यात्मक तो कोई पदार्थ हो नहीं सकता।

समाधान इसका यह है कि जो सुमेरूपर्वत ध्रुव है, सत् है उसमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कितने ही परमाणु नये आते हैं, कितने ही परमाणु उससे अलग हो जाते हैं और उसकी परिणति विविध यों होती रहती है, तो स्थूल दृष्टि से ध्रुव है, पर प्रमाणदृष्टि से तो वह नित्यानित्यात्मक है। इसी तरह जो बिजली चमकी और चमक मिट गई तो बिजली क्या थी? कोई पुद्गल परमाणु थे सो चमक रूप में आ गए थे, दो चमक न रही तो क्या वे पुद्गल परमाणु मिट गए? अब वे पुद्गल परमाणु चमक रूप में नहीं हैं, अन्य रूप में हैं। तो पदार्थ तो नित्यानित्यात्मक रहा, वे परमाणु तो सदा रहेंगे। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, स्थूल दृष्टि से तो समझ में आ रहा उसकी अपेक्षा ध्रुव और अध्रुव कहा जाता है। ध्रुव का ज्ञान करना, अवग्रह करना, ध्रुवावग्रह है। अध्रुव का अवग्रह करना, ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है।

इस तरह इस सूत्र में यह बताया गया कि जो मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान ये मतिविशेष के प्रकार हैं, सो ये इन्द्रिय और मन के निमित्त से होते हैं तथा इनमें मतिविशेष के है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद, तो ये चार भेद तथा अन्य मतिज्ञान ये सब बहु बहुविध आदिक १२ प्रकार के पदार्थों में होते हैं याने उन

पदार्थों का ज्ञान होता है। अब दार्शनिक जिस प्रकार मानते हैं इस प्रकार से यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि इन १२ प्रकार के धर्मों का ही ज्ञान होता है या यह धर्म जिसमें है उस पदार्थ का ज्ञान होता है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए सूत्र कहते हैं—

सूत्र 17

अर्थस्य ॥१७॥

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ का कतिपय धर्मों के रूप में अवग्रहादि का अभ्युदय—सूत्र का अर्थ है पदार्थ का। अनुवृत्ति से अर्थ कर लिया जायेगा कि पदार्थ के बहु बहुविध आदिक धर्मों का अवग्रह आदिक होता है। एक जिज्ञासा हुई थी कि जो पूर्व सूत्र में बहु आदिक ६ धर्म कहे और उनका उल्टा धर्म कहा एक, एकविध आदिक, सो ये १२ प्रकार के धर्म किस धर्मों के होते हैं, जिन धर्मों का ज्ञान करना बताया है वे बहु बहुविध आदिक किस धर्मों के हैं, इसका उत्तर देने के लिए यह सूत्र कहा है कि ये १२ प्रकार के धर्म पदार्थ में होते हैं याने जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर उस पदार्थ को किस रूप से जाना जाता है, यह ज्ञानों की अलग-अलग बात है, पर जानने में पदार्थ ही आता। जैसे आँख से रूप देखा तो क्या आँख ने खाली रूप को जान लिया? खाली रूप कुछ है ही नहीं, जाना ही नहीं जा सकता, किन्तु जाना गया पदार्थ, और वह पदार्थ रूपमुखेन जाना गया। केवल रूप को कोई नहीं जान सकता याने पदार्थ तो जाना न जाये और खाली रूप को जाना जाये, ऐसा सम्भव ही नहीं, क्योंकि पदार्थ तो हो नहीं और कही रूप-रूप ही धरा हो, ऐसा कहीं होता ही नहीं है। तो जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर पदार्थ रूपमुखेन जानने में आया, ग्राण के द्वारा गंधमुखेन जानने में आता, ऐसा भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में जाना जाता है, और जाना जाता है पदार्थ ही। जैसे कोई आत्मा का ज्ञान करे तो अनेक प्रकार से करता है। आत्मा में दर्शन गुण है, चारित्र गुण है, आनन्द गुण है आदिक या आत्मा में क्रोध है, मान है, जिस किसी भी तरह से आत्मा के बारे में जाना तो क्या कोई खाली क्रोध को जान सकता है? अरे क्रोधसहित आत्मा को जाना जा रहा। क्या कोई खाली आनन्द नाम के धर्म को जान सकता है? नहीं। आनन्दरूपमय आत्मा को जाना जा रहा है। आत्मा को ही आनन्द रूप में जाना, ज्ञानरूप में जाना, अन्य अवस्था रूप में जाना, जाना पदार्थ ही। चाहे जैसे कोई मीठा रस खाना चाहता है तो उससे कहो कि पदार्थ को तो छूना नहीं, मुख में रखना नहीं और खाली मीठा तुम चख लो, तो मीठा अलग से कहां चखा जायेगा? मीठा कुछ अलग है ही नहीं, मीठा रस असत्। पदार्थ ही जाना गया है स्वाद में, केवल मीठा नहीं जाना गया, तो जितना भी ज्ञान होता है जिस किसी को भी वह सब पदार्थ का ज्ञान होता है। पदार्थ का ज्ञान जिस किसी भी रूप में हो जाये यह साधन कारण योग्यता आदिक की कला है।

धर्मों से धर्म का अभेद और उनका परिचय करने के लिये भेदव्यवहार—कोई शङ्काकार पूछ रहा है कि हमको तो यह नहीं जंचता कि धर्मों याने पदार्थ कोई चीज है, जो कुछ है वह सब धर्म धर्म ही पूर्ण पूर्ण वस्तु है अन्यथा बताओ जैसे रूप का और पुद्गल का ही विचार कर लो। रूप धर्म है, पुद्गल धर्मों हैं याने रूपवान है तो वह रूप पुद्गल से न्यारा है कि अभिन्न है। अगर कहो कि रूप पुद्गल से अलग है तो पुद्गल का यह

रूप है, यह कैसे कह सकते? जब अलग ही है तो जिस चाहे का कह दो या किसी का ही न कह सकें। रूप रूप है, तो रूप अगर पुद्गल से न्यारा है तो यह पुद्गल का है, यह कथन ही गलत है और कहो कि रूप पुद्गल में एकमेक है तो एकमेक के मायने यह है कि रूप और पुद्गल एक हो गए, दो रहे ही नहीं, तो नाम ही क्यों लो यह? ऐसे ही बहु बहुविध आदिक जो १२ धर्म कहे, ये पदार्थ के बताये जा रहे हैं तो यह बतायें कोई कि ये १२ धर्म पदार्थ से भिन्न हैं या अभिन्न हैं? अगर पदार्थ से भिन्न है तो ये पदार्थ के धर्म हैं, यह कथन ही गलत हो जायेगा। अगर पदार्थ से अभिन्न है तो दो नाम ही न कहना चाहिए। चीज एक ही है। धर्म धर्मी ही न रहे।

इस शङ्का के समाधान में अधिक कहना तो यों व्यर्थ है कि यह सारी बात प्रतीति सिद्ध हो रही है। पुद्गल से रूप कहीं अलग नहीं दिखता और पुद्गल को ही देखकर आंख से खुले रूप में जाना जा रहा है, घ्राण से गंध जाना जा रहा है, रसना से केवल रस जाना जा रहा है, और अलग सो है नहीं और परिचय, अलग-अलग रूप से हो रहा, इसी के मायने हैं कि किसी दृष्टि से तो यह भिन्न कहा जा सकता, और किसी दृष्टि से इसे अभिन्न कहा जा सकता, ऐसे ही जब बहु बहुविध आदिक धर्मों का ज्ञान हो रहा है तो वह ज्ञान सब एक मतिज्ञान है। उसका विषय यह पदार्थ है। उनका उस-उस रूप में ज्ञान हो रहा।

पूर्वोक्त दो सूत्रों सहित इस सूत्र का प्रतिलोमविधि से अर्थ—इससे पहले सूत्र कहे गए हैं उनको अगर एक ही जगह रखकर एक ही वाक्य मान लिया जाये तो यों अर्थ होगा—सूत्र यों है—अवग्रहावायधारणाः, बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्, अर्थस्य। अब इन तीन सूत्रों का विपरीत प्रकार से अर्थ बनाओ। पदार्थ के बहु बहुविध आदिक १२ प्रकार के धर्मों का अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होता है। पदार्थ क्या चीज है? इस विषय में कुछ थोड़ा और समझना है। पदार्थ मायने व्यक्ति पदार्थ। चूँकि आगे सूत्र आयेगा व्यञ्जनस्यावग्रहः अर्थात् अध्रुव पदार्थ के अवग्रह ही होता है, उससे भी यह ध्वनित हुआ कि यहाँ अर्थस्य का अर्थ है कि व्यक्ति पदार्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये सब मतिविशेष होते हैं। तो द्रव्य और पर्यायस्वरूप जो पदार्थ है उसी का नाम है व्यक्ति पदार्थ। यद्यपि पदार्थ ही व्यञ्जनविग्रह का विषय है, मगर अर्थावग्रह का विषय है व्यक्ति पदार्थ, जो स्पष्ट हुआ और जब स्पष्ट नहीं हुआ ज्ञान में तो वह कहलाता है अव्यक्ति पदार्थ, जिस पदार्थ का व्यञ्जनावग्रह ज्ञान होता है। तो पदार्थरहित पदार्थ की पर्याय नहीं जानी जाती, किन्तु पर्याययुक्त पदार्थ जाना जाता है, क्योंकि कोई भी वस्तु पर्याय से रहित नहीं है और कोई भी पर्याय वस्तु से रहित नहीं है। चीज है और प्रतिक्षण उसमें अवस्थायें आती रहती हैं, इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ के बहु आदिक धर्मों का अवग्रहादिक होता है और यही मतिज्ञान माना गया है। अब अव्यक्ति पदार्थ के कौन-कौन से मतिविशेष होते हैं, इसका उत्तर देते हैं।

सूत्र 18

व्यञ्जनास्यावग्रहः ॥१८॥

अव्यक्ति पदार्थ के अवग्रह तक ही हो सकने का नियम—व्यञ्जन पदार्थ के अर्थात् अव्यक्ति पदार्थ के अवग्रहज्ञान

होता है। यहाँ व्यञ्जन का अर्थ अव्यक्त है। अव्यक्त पदार्थ के याने अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह ही होगा। ईहा, अवाय, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—ये ज्ञान नहीं होते। कोई शंका करता है कि जब पहले सूत्र में बता दिया कि व्यक्त पदार्थ के अवग्रहादिक होते हैं तो अपने आप सिद्ध हो गया कि व्यञ्जन पदार्थ के अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक न होंगे? इसके समाधान में कहते हैं कि यह सूत्र नियम करने के लिए कहा गया है याने अव्यक्त पदार्थ के अवग्रह ही होता है। जब कोई बातें अपने आप सिद्ध होती हैं और उसे दुबारा कहा जाये तो उसमें नियम बन जाया करता है। अव्यक्त चीज क्या? अव्यक्त स्पर्श, अव्यक्त रस अव्यक्त गंध और अव्यक्त शब्द। आंखों से जो देखा जायेगा वह अव्यक्त नहीं रह सकता व स्पष्ट रहेगा। चाहे पास का देखे, चाहे दूर का देखे। मन से जो सोचा जायेगा वह अव्यक्त न रहेगा चित्त में स्पष्ट हो जायेगा, पर स्पर्श, रस, गंध, शब्द—ये चार किसी को स्पष्ट भी ज्ञात होते हैं, किसी को अस्पष्ट भी ज्ञात होते हैं। जैसे छूने में कुछ आया तो कभी किसी को ऐसा लगता है कि क्या था? कुछ था, समझ में न आया, कैसा था, क्या था? इसी तरह रस, गंध का भी होता है और शब्द का भी समझ में आता है। चले जा रहे हैं, कोई शब्द सामान्य रूप से सुनने में आये, फिर खत्म, फिर सोचते भी हैं कि किसका शब्द था वह, पर निर्णय में नहीं आ पाता। तो ऐसे अस्पष्ट पदार्थ का अवग्रह होता है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि रूप का और मन के विषय का अस्पष्ट अवग्रह क्यों नहीं होता शेष चार का अस्पष्ट क्यों होता? तो इसका कारण यह है कि जो इन्द्रिय से भिड़कर जानने में आया उसका तो स्पष्ट और अस्पष्ट—इन दोनों तरह ज्ञान होता है, और जो पदार्थ इन्द्रिय से भिड़े बिना दूर से ही समझ में आ जाये वह पदार्थ स्पष्ट ही होता है याने साफ जानने में आता है।

अप्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा जन्य ज्ञान में अस्पष्टता का अनवकाश—सुनने में भले ही उल्टी बात लग रही होगी कि जो पदार्थ बहुत दूर है वह तो हो जाता है बिल्कुल साफ विदित और जो पदार्थ इन्द्रिय से भिड़े वह पदार्थ साफ भी विदित हो और न भी हो, यह उल्टा कुछ नहीं है, स्पष्ट चीज है। जैसे कोई कोरा घड़ा है, उस पर दो-चार बूंद पानी के डाल देवें तो वह अव्यक्त गीला होता है। समझ में तो न आयेगा कि गीला हो गया और उस पर १०-१५-२० बूंद पानी डालता रहे तो स्पष्ट समझ में आता कि यह घड़ा गीला हो गया। तो चूंकि वह जल भिड़ता है घड़े से तो उसमें दोनों प्रकार हो गए—कितना भिड़े तो अव्यक्त रहे और कितना भिड़े तो स्पष्ट हो जाये। और जैसे दूर से रोशनी हुई घड़े पर, घड़ा व्यक्त हो गया मालूम पड़ गया, चाहे धुंधला दिखे, चाहे कैसा ही। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श से भिड़कर जानती है। चीज छूने में आयी तो ठंडा गर्म आदिक जाना जाता है। अब किस तरह छूने में आये तो बढ़िया जाना जाये और कितना छूने में आये तो साफ न जाना जाये, यह भेद पड़ जाता है। पर आंखों से जब पदार्थ देखते हैं तो वहाँ यह भेद नहीं पड़ता, क्योंकि नेत्र पदार्थ से भिड़कर नहीं जानते, दूर से जानते। तो जो दिखा वह साफ ज्ञान में आ जाता है। ऐसे ही मन से जो सोचा—सामने एक बना हुआ सा रहता है। तो यह व्यञ्जनावग्रह चूंकि आँख से और मन से नहीं हो सकता, इसलिए यह अस्पष्ट ही है, स्पष्ट नहीं होता, पर ईहा आदिक स्पष्ट के होंगे, अस्पष्ट के न होंगे। अवग्रह तो कहते हैं किसी पदार्थ को जानने चले तो प्रारम्भ में जो सामान्य जानकारी बनती है उसका नाम है अवग्रह, फिर उसी

पदार्थ में कुछ विशेष का ज्ञान होता है विशेषरूप से । जैसे दूर से देखा कि यह मनुष्य है, ऐसा जाना तो अवग्रह है और अब यह जाना कि यह अमुक चंद से हैं यह हुआ ईहा और जब समझ में आ जाये कि अमुक चंद ही हैं तो वह हुआ अवाय और उसे न भूले तो यह हुई धारणा । तो ईहा, अवाय, धारणा तो तब ही होंगे जब पदार्थ स्पष्ट हो जाये । तो अस्पष्ट के अवग्रह ही होता, ईहा आदिक नहीं हो सकते । ऐसा नियम बनाने के लिए यह सूत्र कहा गया है ।

यहाँ कोई पूछे कि जब इन्द्रिय से अर्थावग्रह जाना, इन्द्रिय से व्यञ्जनावग्रह जाना, फिर इन दोनों में यह भेद कैसे आया कि व्यञ्जनावग्रह तो अस्पष्ट को जाने और अर्थावग्रह स्पष्ट जाने? तो इसका उत्तर यह है कि जानने वाले जीव के ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विशेषता है । जिसको विशेष क्षयोपशम है वह स्पष्ट जानता है, जिसको हीन क्षयोपशम है वह अस्पष्ट जानता है । यहाँ यह शंका न रखनी कि जो प्रत्यक्ष होता है सो स्पष्ट ही है । प्रत्यक्ष स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों तरह होते हैं । मगर कहा क्यों गया कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट होता है? कहा यों गया कि जितने अंशों में कुछ परख पाया वहाँ आंशिक स्पष्टता है । जैसे कभी तेज धूप में प्रकाश में आंखें मींचकर बैठ जायें तो भी कुछ दिखता सा है अथवा उल्ल वगैरा जो दिन में नहीं देख पाते तो आखिर दिन में कुछ देख सकते हैं, मगर सब अस्पष्ट है । जिसकी आंखों में रोग है, जिसको कम दिखता तो वह कहता ना कि भाई हाथ दो हाथ दूर की चीज दिखती है, मगर धुँधलीसी तो देखे वह स्पष्ट और धुँधला वह अस्पष्ट । दूर से वृक्षों को देखा । जो देखा वह स्पष्ट और कितना बड़ा है, कैसा है, यह ज्ञात न होना सो अस्पष्ट । इसी तरह इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में अस्पष्ट का ज्ञान, स्पष्ट का ज्ञान दोनों ही सम्भव हैं और फिर स्याद्वाद में तो शंका ही नहीं है, क्योंकि यहाँ तो वास्तव में इन ज्ञानों को परोक्ष कहा गया । आद्ये परोक्षं यह एक स्वयं सूत्र है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान होते हैं, पर व्यवहार से ये मतिविशेष प्रत्यक्ष कहे गए । तो उसके सांव्यवहारिक में स्पष्ट और अस्पष्ट धर्मरूप से जाना जाता है । इस तरह यह शुद्ध हुआ कि अस्पष्ट का अवग्रह व्यञ्जनावग्रह है और स्पष्ट का अवग्रह अर्थावग्रह है ।

अस्पष्टप्रतिभासी व्यञ्जनावग्रह में श्रुतलक्षणत्व का अभाव—यहाँ शंकाकार कहता है कि जो यह बताया गया कि अवग्रहज्ञान अर्थ के धर्मों का होता है और यह अस्पष्ट भी होता और स्पष्ट भी होता है । अस्पष्ट अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहा है । स्पष्ट अवग्रह को अर्थावग्रह कहा है । और अस्पष्ट अवग्रह के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे दूर देश में रहने वाले वृक्षादिक में जो ज्ञान हम लोगों को होता है वह अस्पष्ट ज्ञान है, वहाँ कुछ विशेष नहीं जाना जा रहा है । इसी प्रकार जो दिन में नहीं देख पाते, रात्रि में ही जिन्हें दिखता है विशेष, तो जब दिन होता है तब सूर्य की किरणों में थोड़ा काला-काला सा दिख जाता है तो वहाँ भी विशेष अंश को विषय नहीं किया, सो यह बात तो हम मानते हैं, लेकिन यहाँ हमारा यह कहना है कि ऐसा जो अस्पष्ट अवग्रह हुआ जिन्हें कि व्यञ्जनावग्रह कहा जा रहा है, यह अस्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, यह अवग्रह ही नहीं है, किन्तु अस्पष्ट होने के कारण श्रुतज्ञान है, क्योंकि अस्पष्ट विकल्परूप तर्कणायें करना श्रुतज्ञान का काम है ।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ऐसा कहना संगत नहीं है। इसका कारण यह है कि एक तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है कि इन्द्रिय से ही देखकर जानकर यह अस्पष्ट प्रतिभास बन रहा है और फिर अनुमान विरुद्ध भी है। किस तरह? देखिये अधिक दूर रहने वाले वृक्षादिक का ज्ञान इन्द्रियजन्य है, क्योंकि इन्द्रिय के साथ इस ज्ञान का अन्वयव्यातिरेक चल रहा है याने इन्द्रिय के होने पर यह ज्ञान हो रहा है, इन्द्रियव्यापार के बिना नहीं होता तो जो दूरवर्ती पदार्थों का अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है सो वह बराबर इन्द्रियजन्य है। इस प्रकार उल्लू आदिक तमाम पक्षियों को जो दिन में अस्पष्ट प्रतिभास हो रहा है वह भी इन्द्रियजन्य है, क्योंकि इन्द्रिय के न होनेपर नहीं होता यह सब ज्ञान। और फिर व्यञ्जनावग्रह ही क्या? अर्थावग्रह स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान, झूला, अवाय, धारणा—ये सब परोक्ष कह दिए जाये तो यह तो सिद्धान्त ही है। एकदेश स्पष्ट होने के कारण इस मतिविशेष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। तो व्यञ्जनावग्रह भी अर्थावग्रह की भाँति इन्द्रियजन्य है। यहाँ यह बात समझनी कि अस्पष्ट जानकारी होना श्रुतज्ञान का लक्षण बताया वह ठीक नहीं है। भले ही श्रुतज्ञान में अस्पष्ट प्रतिभास है, मगर जहाँ-जहाँ अस्पष्ट प्रतिभास हो वह सब श्रुतज्ञान है—ऐसा लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी श्रुतज्ञान कहलाने लगेंगे। मतिज्ञान से जिस पदार्थ का ज्ञान किया गया अब उसमें मन के बल से ऐसा अस्पष्ट प्रतिभास हुआ, जो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से निराला हो और नाना प्रकार के स्वरूपों का प्ररूपण हो रहा हो वह श्रुत है—ऐसा मान लेने पर तो सही ही बात है। सो ही कहा है आगम में कि “श्रुतमतिपूर्व ।” लेकिन इस तरह का ज्ञान इन दूरवर्ती पदार्थों के निरखने में नहीं है। यहाँ ऐसा नहीं है कि पहले मतिज्ञान से कुछ जाना अस्पष्ट और उसके बाद फिर यह अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है, किंतु सीधा ही आंखों से निरखकर इन दूरवर्ती वृक्षों का ज्ञान चल रहा है और वह अस्पष्ट चल रहा है। यहाँ भी यद्यपि कुछ तो जाना, इस अंश से तो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, मगर जो अस्पष्ट प्रतिभास है वह बीच में अन्य ज्ञान करके नहीं हो रहा है, किंतु सीधा ही इन्द्रिय से जन्य हो रहा है। यह ज्ञान श्रुतज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिक की अपेक्षा स्पष्ट है, इस कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, पर विशेष अंश का बोध नहीं चल पाता, इस कारण अस्पष्ट है।

परोक्षज्ञानों में अस्पष्टता की संभवता—अब यहाँ कोई दार्शनिक शङ्का कर रहा है कि हम तो ऐसा समझते हैं कि जितने भी ज्ञान होते हैं समस्त ज्ञान स्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि अपने-अपने विषय को जानने में अन्य किसी को भी उन ज्ञानों की व्यवस्था कराने का योग नहीं है। सभी ज्ञान अपने आपके विषय के व्यवस्थापक बनते हैं। तो जब सभी ज्ञानों में यह कला है कि अपने आपके विषय के व्यवस्थापक हैं और स्वयं जानते हैं तो सभी स्पष्ट ही तो कहलाये, और इस रीति के अनुसार व्यञ्जनावग्रह भी अस्पष्ट नहीं हैं, वे भी स्पष्ट हैं। इस शंका का समाधान करते हैं कि सभी लोग निर्वाध स्पष्ट प्रतिभास का स्पष्ट अनुभव करते हैं और अस्पष्ट प्रतिभास में अस्पष्ट की जानकारी करते हैं तो यह स्पष्ट और अस्पष्टपना ज्ञानों में अनुभवसिद्ध है, प्रतीतिसिद्ध है। इसलिए प्रतीतिसिद्ध, प्रत्यक्षसिद्ध, युक्तिसिद्ध निर्णयों का अपलाप न करना चाहिए।

ज्ञान में स्पष्टत्व व अस्पष्टत्व धर्म का विचार—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि अस्पष्ट होना यदि ज्ञान का धर्म है तो फिर बार-बार यह क्यों कह रहे हो कि अर्थ अस्पष्ट है? ज्ञान के अस्पष्ट होने से अर्थ को अस्पष्ट

कह देना अच्छा तो नहीं है अन्यथा किसी का धर्म किसी में ही लगाया जा सकता है । ऐसा कहने वाले शंकाकार यह बताएं कि जो ज्ञान को स्पष्ट ही स्वीकार करते हैं, अस्पष्ट प्रतिभास नहीं मान रहे हैं तो स्पष्ट होना भी तो एक धर्म है । तो वह स्पष्टता यदि ज्ञान का धर्म है तो फिर पदार्थ की स्पष्टता क्यों कहते हो? अगर कहो उपचार से द्वितीय धर्म का याने ज्ञान के धर्म का विषय में उपचार कर दिया जाता है इसलिए ज्ञान की स्पष्टता का प्रयोग पदार्थ में भी होता है । तो यही उत्तर तो अस्पष्ट ज्ञान में है । यहाँ भी अस्पष्ट ज्ञान के धर्म का पदार्थ में उपचार कर दिया जाता है ।

अब कोई दार्शनिक कहता है कि ज्ञान में जो स्पष्टता आती है वह तो प्रकाश के निमित्त से आ रही है तो यह कथन युक्त नहीं है । कारण यह है कि अगर प्रकाश के कारण स्पष्टता आती है तो उल्लेखों को भी तो वही प्रकाश है, फिर दिन में उन्हें स्पष्ट प्रतिभास क्यों नहीं होता? और फिर आलोक तो यह भिन्न विषय है । ज्ञान का कारण तो स्पष्टता का कारण तो आवरण का क्षय, क्षयोपशम आदि है, अन्यथा भूत भविष्य पदार्थों का आलोक कहां रखा है? तो जब उन पदार्थों के साथ आलोक नहीं मिल रहा तो उनको ज्ञान फिर कैसे होगा? हो तो रहा ही है, इनमें जाति, रस, गंध आदिक अनेक पदार्थों को ज्ञान होता प्रकाश के बिना ही । इससे यह कथन भी युक्त नहीं है कि ज्ञान में स्पष्टता का कारण प्रकाश का होना है । इस तरह यह मानना चाहिए कि जितने प्रकार का बोध चल रहा है स्पष्ट बोध, अस्पष्ट बोध, वह सब ज्ञानावरण के क्षयोपशम पर निर्भर है । जहाँ स्पष्ट ज्ञानावरण का क्षयोपशम है और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है वहाँ स्पष्ट ज्ञान होता । जहाँ अस्पष्ट ज्ञानावरण का क्षयोपशम है वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है वहाँ अस्पष्ट बोध होता है ।

चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह न होने का निरूपण—तो इस प्रकार यह जानना चाहिए कि स्पष्ट ज्ञानावरण के क्षयोपशम में होने वाले व्यञ्जनावग्रह से चक्षु और मन के निमित्त नहीं हुआ करते, इसीलिए वह अस्पष्ट है । इस तरह जो मतिविशेष के भेद कहे जा रहे हैं उनमें अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह तो १२ प्रकार के पदार्थों को ६ निमित्तों से जानता है याने ५ इन्द्रिय और एक मन । इस कारण $12 \times 6 = 72$ भेद प्रत्येक के हुए, किन्तु व्यञ्जनावग्रह चूँकि अस्पष्ट प्रतिभास है सो इसका उत्पाद सिर्फ चार इन्द्रियों से होता है—स्पर्शन, रसना, ग्राण और कर्ण । तो व्यञ्जनावग्रह भी १२ प्रकार के पदार्थों को चार इन्द्रियों से जानता है सो इसके $12 \times 4 = 48$ भेद हुए । अब व्यञ्जनावग्रह अस्पष्ट ज्ञान क्यों है, उसका समाधान देने के लिए सूत्र कहते हैं ।

सूत्र 19

न चक्षुरिन्द्रियामयं ॥११॥

सूत्र का अर्थ इतना है शब्दों द्वारा कि चक्षुइन्द्रिय और मन—इन दोनों से नहीं होता । अब इन दोनों से क्या नहीं होता? क्या अवग्रहादिक ज्ञान नहीं होते या व्यञ्जनावग्रह नहीं होता? ऐसी एक जिज्ञासा हो सकती है । तो समाधान यह है कि इसके अनन्तर पूर्व सूत्र में जो कहा हो उसकी अनुवृत्ति लेनी चाहिए अर्थात् ‘व्यञ्जनस्यावग्रहः’ इसकी अनुवृत्ति आयेगी तो अर्थ यह हुआ कि व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से उत्पन्न नहीं होता । अच्छा व्यञ्जनावग्रह का अर्थ है अस्पष्ट पदार्थ का अवग्रह करना और उसे बताया है कि चक्षु और मन

से वह उत्पन्न नहीं होता, ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं याने पदार्थों से भिड़कर आंखें ज्ञान नहीं करती, बल्कि आंखों पर पदार्थ भिड़ जाये तो ये कुछ देख ही न सकेगी। आंखें तो दूर से ही पदार्थों का ज्ञान करती हैं, इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारी है। भूत भविष्य दूरवर्ती पदार्थों को मन जानता है तो क्या उनसे भिड़कर जानता है? तो ये दो साधन चक्षु और मन चूँकि पदार्थों से भिड़कर नहीं जानते, इसलिए इनके द्वारा स्पष्ट ज्ञान ही होता है। यहाँ कोई यह शंका न रखें कि जब आंखें पदार्थों से भिड़कर नहीं जानती तो आँखें फिर जिस चाहे को जान बैठें। पीठ पीछे कोई चौज रखी है उसे क्यों नहीं आँखें जानती? ऐसी शंका इस कारण ठीक नहीं कि आंखों का और पदार्थ का सम्बन्ध तो है, उस सम्बन्ध का खण्डन नहीं किया जा रहा, किन्तु पदार्थ से भिड़कर नहीं जानती आँखें। सो आंखें अप्राप्यकारी हैं, लेकिन पदार्थ के साथ प्राप्तिरूप सम्बन्ध है। यहाँ प्राप्ति का अर्थ संयोग नहीं, भिड़कर जानना नहीं, किन्तु कितनी दूर पदार्थ रखा हो तो ये चक्षु जान सकें, ऐसे योग्य देश में पदार्थ का अवस्थित रहना, इसे कहते हैं प्राप्तिरूप सम्बन्ध। हां तो जो इन्द्रियां भिड़कर जानती हैं उन इन्द्रियों से कभी स्पष्ट प्रतिभास होता है, कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है। इसका कारण यह है कि वहाँ प्राप्ति का भेद है याने कितनी दूर हो तो स्पष्ट बने और कितनी दूर पास हो कि अस्पष्ट बने, ऐसे प्राप्ति भेद के कारण और अंतरंग योग्यता के कारण प्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट और अस्पष्ट का ग्रहण होता है।

जैसे नया सकोरा हो मिट्टी का और उस पर दो-चार बूँद पानी डाल दें तो अस्पष्ट गीलापन रहेगा, स्पष्ट न होगा, व्यक्त न होगा और लगातार अनेक बूँद पड़ जायें तो उसका गीलापन स्पष्ट हो जायेगा। तो जैसे यहाँ प्राप्ति के भेद से व्यक्तपना और अव्यक्तपना है, ऐसे ही यहाँ भी याने अवग्रह में भी प्राप्ति के भेद से अस्पष्टपना और स्पष्टपना है। यहाँ प्राप्ति का मतलब है प्राप्यकारी से। अच्छा, और जो अप्राप्तिकारी चक्षु और मन हैं, वे पदार्थ की स्पष्ट ही जानकारी बनाते हैं। इसका कारण यह है कि अप्राप्ति में भेद नहीं हुआ करता। जैसे घड़े में तो भेद है, कोई छोटा घड़ा कोई बड़ा घड़ा, पर बड़े के अभाव में क्या भेद? जैसे घड़े का अभाव, किवाड़ का अभाव, भींत का अभाव। अभाव में क्या भेद पड़ता है? तो ऐसे ही जो इन्द्रियां भिड़कर जानती हैं उनके भिड़ने में तो भेद होता है और उस भेद के अनुसार प्रतिभास भेद होता है, किन्तु चक्षु और मन जो पदार्थ से भिड़कर नहीं जानते वहाँ प्राप्तिकारी का अभाव है। तो अभाव में क्या भेद है, इस कारण चक्षु और मन पदार्थ को व्यक्त ही जान जाते हैं।

चक्षु की अप्राप्यकारिता की मीमांसा—अब यहाँ नैयायिक एक आशङ्का रख रहे हैं कि जैसे स्पर्शन, रसना, ग्राण और कर्ण—ये पदार्थ को छूकर ही जानते हैं, ऐसे ही आंखें भी पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है तब जानती है, क्योंकि बाह्यइन्द्रिय होने से। जो-जो बाह्य इन्द्रियाँ हैं वे पदार्थ से भिड़कर ही जानती हैं। हां, मन बाह्यइन्द्रिय नहीं है, सो मन पदार्थ से भिड़े बिना जान ले वह तो ठीक है, पर इन्द्रियाँ सभी पदार्थों से भिड़कर जानती हैं, ऐसे ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थ से भिड़कर जानती है।

इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि इस कथन में प्रत्यक्ष बाधा है। यदि आँखें पदार्थ से भिड़कर जाने तो पहले तो आँखें इस काले और सफेद गटा को ही जान लें, जो आंख के पास ही चिपके हुए हैं, जिनके बीच

में ही आँखें बैठी हैं। तो ये आँखें अपने काले सफेद गटा तक को जान नहीं पाती, और बाहरी पदार्थों को कहते हैं कि उनको भिड़कर जानती हैं। तो इस तरह से चक्षु भी प्राप्यकारी हैं, ऐसी सिद्धि करने में प्रत्यक्ष से बाधा है। अब अनुमान से समझिये। अनुमान है कि चक्षु भिड़कर जानने वाले नहीं हैं, क्योंकि वे छूकर नहीं जानते। जो छूकर जानते हैं वे इन्द्रियां भी प्राप्यकारी कही जाती और जो छूकर नहीं जानते उन्हें प्राप्यकारी कैसे कहेंगे? इस अनुमान को सुनकर यदि शङ्काकार मन में यह आशंका रखे कि हम तो शक्ति स्वरूप चक्षु की बात कह रहे। शक्ति-स्वरूप चक्षु में अंजन, सुरमा आदिक नहीं लगते हैं, इसलिए उसमें कोई दोष नहीं है। तो इस पर उत्तर में यह ही कहना है कि तुम्हारे शक्तिमान चक्षु बड़े बेढ़ब हैं कि जहाँ शक्तिमान चक्षु रहता है उस जगह के पदार्थों से भिड़ता नहीं है और दूसरे देश में स्थित पदार्थों से भिड़ता है, बड़ा बेढ़ब है यह शक्तिमान चक्षु और ऐसे शंकाकार की एक ही बात क्या अटपट है? वह तो यह कहता है कि आत्मा का ज्ञानगुण आत्मा से बिल्कुल जुदा है, तो ऐसी दशा में पदार्थ का, आत्मा का निज स्वरूप तो जड़ ही हुआ। अब बाहरी ज्ञान चिपकाकर अपने को चेतन बनावे तो यह ऐसी विडम्बना है कि जैसे कोई दूसरे के गहने मांगकर अपने को सम्पन्न बनावे। मांगे हुए से क्या सम्पन्नता होती है? वस्तुतः तो वह दरिद्र है। तो ऐसे ही यह बात बन गयी कि शक्तिमान चक्षु में अञ्जन का स्पर्श नहीं होता। तो जहाँ शक्तिमान चक्षु है वहाँ तो पदार्थ का स्पर्श नहीं होता और बहुत दूर में स्पर्श हो जाता। इसलिए कल्पना करके और-और कुछ मानने में क्या तत्त्व रखा? जो प्रतीतिसिद्ध है उस ही को मान लेना चाहिए। प्रतीतिसिद्ध बीत यह है कि चक्षु भिड़कर नहीं देखती, किन्तु दूर ही रहकर योग्य क्षेत्र में अवस्थित पदार्थों को जान लेती है।

नियामिका योग्यता के अन्तर्गत तथ्यों को न मानने पर अन्य कल्पनाओं से ज्ञानपथब्रष्टता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि चक्षु दो प्रकार के होते हैं—एक शक्तिरूप चक्षु, दूसरा व्यक्तिरूप चक्षु। व्यक्तिरूप चक्षु तो जो लोगों को दिखता है वह है। शक्तिरूप चक्षु जिसके द्वारा देखा जाता है, ज्ञान होता है वह शक्तिरूप चक्षु है। इसमें प्रथम तो व्यक्तिरूप चक्षु का दूर देश रहने वाले पदार्थ के साथ सम्बंध होता है और उस सम्बन्ध पूर्वक फिर शक्तिरूप चक्षु का सम्बंध बनता है, इसी तरह ज्ञान हो पाता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान नहीं हो सकता।

इस शङ्का का समाधान यह है कि यह बात कहनी तो तब भली हो सकती थी जब हि चक्षु में यह कला न होती कि वह बिना सम्बंध किस ही पदार्थ को जानती। जब चक्षु में यह सामर्थ्य है कि बिना सम्बंध किए ही पदार्थ को जना सकती है तो यह शंका अत्यन्त निर्मल है, बल्कि चक्षु पदार्थ से सम्बंध करके जान ही नहीं सकती। अगर पदार्थ से भिड़कर चक्षु जानती होती तो आँख में भिड़ा हुआ जो अञ्जन है उसे क्यों नहीं आखें जान पातीं। वह तो खूब डटकर भिड़ा हुआ है। अगर शङ्काकार यह कहे कि वहाँ उसको समझने को योग्यता नहीं है तो बस योग्यता ही मानो। उस योग्यता के ही द्वारा सब व्यवस्था बनती है और वह योग्यता क्या है? ज्ञानावरण का क्षयोपशम उस योग्यता के होने पर कोई इन्द्रिय तो किसी अर्थ को भिड़कर जानती है और कोई इन्द्रिय किसी अर्थ से अछूता रहकर ही जानती है। जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसमें उसका अलाप करना बुद्धिमानी नहीं है। देखो मन जैसे विषयों के साथ न भिड़कर भी पदार्थ को जानने की योग्यता रखता है, ऐसे

ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थ से न भिड़कर ही जानने की योग्यता रखती है। तो जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसको न मानकर कल्पना करके कुछ सिद्ध करना बुद्धिमानी नहीं है।

चक्षु एवं मन की अप्राप्यकारिता की युक्ति प्रतीतिसिद्धता—यदि शंकाकार यह कहे कि जो ऐसा कहा है कि चक्षु बिना भिड़े ही पदार्थ को जनाती हैं, मगर भिड़कर जनाती होती तो आंख में लगे हुए अङ्गन का क्यों न ज्ञान करा देती? और दृष्टान्त देते हैं मन का। तो दृष्टान्त तो सही न मिला, क्योंकि मन तो भिड़े पदार्थ को जान जाता है। जैसे सुख दुःख उत्पन्न हुए तो उन्हीं प्रदेशों में ही तो सुख दुःख होते हैं। जहाँ मन है और मन सुख दुःख का अच्छी तरह वेदन करता है। तो देखो भिड़े हुए को जान लिया ना, तो मन तो अप्राप्यकारी न रहा। इस शंका का समाधान यह है कि प्रकृत में जो हेतु दिया जा रहा है वह चक्षु को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए दिया जा रहा है और मन को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए अन्य युक्ति है। वह क्या? मन अप्राप्यकारी है, क्योंकि शरीर के हृदय देश से अतिरिक्त अन्य जगहों में, अन्य प्रदेशों में सुख दुःख आदिक का ज्ञान कराने वाला है द्वार अथवा दूसरा हेतु यह है कि भूत भविष्य व दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने वाला है। मन तो हृदय में रहता है और सुख दुःख का वेदन हृदय से अतिरिक्त किसी भी अंग में सुख दुःख हो रहा हो उसका भी वेदन करता है, अथवा दूसरा हेतु और भी स्पष्ट है कि भूतकाल की बात को मन जान लेता है। अब जो गुजर गया उस पदार्थ के साथ इस वर्तमान मन का सम्बन्ध कैसे होगा? यदि मन भिड़कर जानने वाला होता तो भविष्य की बात को कैसे जान सकता था? अत्यन्त दूर की बात को कैसे जान सकेगा? इसलिए मन अप्राप्यकारी है। यहाँ तो नेत्र को अप्राप्यकारी सिद्ध किया जा रहा है। वहाँ यह हेतु अत्यन्त युक्त है कि यदि नेत्र भिड़कर जानता होता तो नेत्र में भिड़े हुए अङ्गन को क्यों नहीं जान लेता? जो-जो प्राप्यकारी होता है वह भिड़कर जाना करता है। जैसे स्पर्शन, रसना, ग्राण और श्रोत्र। ये अपने विषय से सम्बन्ध कर, स्पर्श कर जाना करते हैं।

चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर अनेक आपत्तियों का प्रसङ्ग—यहाँ प्रसन्न चल रहा है कि व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन के द्वारा नहीं होता, याने अस्पष्ट ज्ञान चक्षु और मन से नहीं होता, क्योंकि जो नेत्र से देखा जायेगा वह स्पष्ट ही कहलायेगा। जितना देखा उतना स्पष्ट है, यह व्यञ्जनावग्रह दर्शनोपयोग के बाद होता, इसके बाद अर्थावग्रह आदिक भी हो सकें तो वह व्यञ्जन न रहा। जो अस्पष्ट ज्ञान है उसके बाद यह योग्यता नहीं कि उस अस्पष्ट अर्थ में इहा आदिक बन सके। तो आखें चूंकि भिड़कर नहीं जानती, इसलिए जिसे जानेगी वह स्पष्ट ही रहेगा। जो इन्द्रियां भिड़कर जाने वे इन्द्रियां स्पष्ट को भी जानती, अस्पष्ट को भी जानती। मूल बात यह चल रही है। तो चक्षुइन्द्रिय पदार्थ को छूकर नहीं जानती, इसके लिए यह भी हेतु है। चक्षु बिना भिड़े ही जानती है क्योंकि अगर भिड़कर जानती होती तो कांच स्फटिक स्वच्छ जल के पीछे कोई पदार्थ पड़ा हो तो वह जानने में न आना चाहिए। जैसे लोग खिड़की के कांच में से बाहर की चीजें देखते हैं। तो बाहर की चीजें तब ही तो दिखती हैं कि आखें कोई भिड़कर नहीं जानती। आखें भी पदार्थ को छूकर जाने तो बीच में तो कांच आ गया, सो आंखें तो कांच से रुक जायेगी, फिर उसके पीछे रहने वाले पदार्थ कैसे जान जायेंगे? यदि शंकाकार वहाँ भी यही माने कि आखें तो उस कांच में से निकलकर पदार्थ से भिड़ जाये तब पदार्थ देखने

में आते हैं तो भला बतलावो कि अगर ये आंखें पदार्थ कांच को भेद कर जायें और कांच के बाद रहने वाले पदार्थ से भिड़े तो कांच टूट न जायेगा क्या? पर ऐसा किसी को नहीं दिखता। कांच वही का वही है और फिर देखो बहुत बड़ा मोटा कांच है उसको तो पार करके आंखें चली जाये दूर रहने वाली चीजों को देखने के लिए और रुई कपड़ा जैसी कोमल चीजों को भेदकर नहीं जा सकती। यह कितने बड़े आश्चर्य की बात कही जा रही है?

किसी भी पदार्थ का अन्य पदार्थ में प्रवेश की अशक्यता तथा निमित्तनैमित्तिक योग से औपाधिकार्य की व्यवस्था—यहाँ शंकाकार कहता है कि इसमें क्या आश्चर्य है? आंखें कांच, स्फटिक आदिक जैसे कठोर पदार्थों को तो भेदकर चली जायेगी और रुई वगैरा कोमल पदार्थों ले न भिड़ेंगी। उससे आंखें छिद जायेंगी, यह तो अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे लोहे का बना हुआ कोई पदार्थ है, उसको भेदने में समर्थ है पारे से बना हुआ पदार्थ, मगर तुम्हीं को वह पारे वाला पदार्थ भेदने में समर्थ नहीं है। सूर्य की किरण भी तो कांच के भीतर घुस जाती है पर मखमल रुई के भीतर नहीं घुस पाती। यह तो पदार्थों की अलग-अलग बात है। बिजली का करेन्ट ताम्बे में, लोह में प्रवेश कर जाता है, पर रबड़ में नहीं कर पाता। तो रबड़ तो कोमल चीज है। इसमें तो बिजली जाती नहीं और कठोर तांबे में, लोहे में चली जाती है। इसी तरह यहाँ बात है कि आंख की किरणे कांच आदिक को भेदकर चली जायेगी, पर रुई आदिक को नहीं भेद सकती है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि उनका कहना यह प्रत्यक्षविरुद्ध है, क्योंकि यदि ये आंख की किरण कांच के टुकड़े से भेदकर चली जाये तो इसके मायने हैं कि वह कांच टूट गया, पर किसी को टूटा दिखता कहाँ है? सभी लोग यही अनुभव करते हैं कि वही कांच है जो अभी देखा जा रहा था तो प्रत्यक्षबाधित बात में और-और पदार्थों के दृष्टान्त लगाकर असत्य को सत्य साबित करने में चतुराई न समझना चाहिए और देखो जो एक दृष्टान्त दिया कि सूर्य की किरणें उस काँच को भेदकर चली जाती हैं तब ही तो कमरे में प्रकाश आ जाता है, सो यह बात भी सत्य नहीं है। सूर्य की किरणे काँच के भेदें या कहीं जाये, ऐसा नहीं है, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि सूर्य का सन्त्रिधान पाकर पदार्थ प्रकाशित हो जाता है। तो ये सूर्य के जो पुद्गल परमाणु हैं उनमें यह विशेषता है कि वे परपदार्थक प्रकाशित होने में निमित्त हैं और उसमें यह डबल विशेषता है कि वह स्वयं प्रकाशरूप है और दूसरे के प्रकाश होने में निमित्त है, पर काँच में एक विशेषण है कि वह स्वयं प्रकाशरूप तो नहीं है, पर सूर्य का सन्त्रिधान पाकर प्रकाशरूप हुआ कांच अन्य पदार्थों के प्रकाश में निमित्त है। तो यह तो निमित्तनैमित्तिक योगवश व्यवस्था बनायी है। कहीं सूर्य की किरणें आती हों और काँच में से घुसकर कमरे में आती हों ऐसी बात नहीं है, और आंख की बात तो सभी को स्पष्ट है। न आँख में से किरणें निकलती हुई कोई जानता है और न युक्ति से सिद्ध है। तो ये चक्षु अप्राप्यकारी हैं, पदार्थ से भिड़कर नहीं जानते, इसी कारण ये कांच से पीछे रहने वाले पदार्थों को भी जान लेते हैं।

नेत्ररश्मि से कांच के टूटते रहने पर भी शीघ्र शीघ्र उत्पाद होते रहने से विनाश की असमझ होने के कारण नेत्र की प्राप्यकारिता में दोष के निवारण करने का निराकरण—यहाँ शंकाकार कहता है कि नेत्र में किरणें होती हैं और किरणें जाकर पदार्थ से भिड़ती हैं तब ये शक्तिरूप चक्षु उन पदार्थों को जानते हैं, और वे कांच से

भिड़कर छिदकर भी पहुंच जाते हैं, और उस समय कांच टूट भी जाता है, मगर वह कांच तुरन्त बन जाता है। तो चूंकि कांच जल्दी टूटता है, बनता है, सो बनने का जल्दी-जल्दी काम होते रहने के कारण और वह कांच का बनना समान-समान आकार का होने के कारण लोग उसका विनाश समझ नहीं पाते। तो कांच स्फटिक आदिक का नेत्रकिरणों के घात के कारण नाश होता रहता है, पर शीघ्र-शीघ्र उसकी उत्पत्ति होती रहती है और समान-समान आकार में ही कांच की उत्पत्ति होती रहती है। इस कारण स्थूल दृष्टि वाले मनुष्य ऐसा ही समझते हैं कि यह कांच नष्ट नहीं हुआ। जैसे कि बाल कट गए और फिर नये उत्पन्न हो गए तो उनमें कोई यह नहीं समझ पाता कि ये तो बाल नये उत्पन्न हुए हैं। कहते हैं लोग कि वे ही तो बाल हैं जो शुरू से ही थे, तो ऐसे ही यहाँ भी स्फटिक और कांच फूटते रहते हैं कि नेत्र के दनादन चोट से, मगर तुरन्त पैदा होते भी रहते हैं, इसलिए लोग नाश की बात नहीं समझ पाते।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह बात तो प्रत्यक्षविरुद्ध है। इसमें एकत्व को साबित करने वाला प्रत्यभिज्ञान जो बन रहा है वह सिद्ध न हो सकेगा और फिर ऐसा अगर मान लिया जाये कि, कांच तो दनादन टूट रहा, उत्पन्न हो रहा तो यह तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त बन जायेगा जो कि चक्षु को प्राप्यकारी मानने वाले दार्शनिकों के सिद्धान्त से विपरीत है। शङ्काकार वैशेषिकों ने आत्मा आकाश परमाणु आदिक पदार्थों को नित्य ही माना है, ऐसे ही कांच जैसी बात सबको ही माननी पड़ेगी। तो आत्मा भी तो अनित्य हो गया। तो इसमें तो शङ्काकार के सारे सिद्धान्त का विघात हो गया। लेकिन जब इन सब पदार्थों में एकता की बात बराबर ज्ञान में आ रही है। यह वही है जो बालपन में था, अब युवापन में आ गया, ऐसे ज्ञानों से पदार्थ की नित्यता ही सिद्ध हो रही है। और देखो यदि कांच को भेदकर, भिड़कर आगे जाती हों तो चाहे कितनी ही जल्दी वह कांच बनता रहे, लेकिन हाथ से कोई टटोले तो कुछ तो अड़चन आनी चाहिए, पर हाथ से टटोलने में तो वही का वही कांच है। तो कैसे कहा जाये कि आंख की किरणें कांच से भिड़ी और ये किरणें बाहर गईं? यदि शंकाकार फिर भी हठ करे कि विनाश के बाद शीघ्र नया-नया कांच स्फटिक उत्पन्न होता रहता है और फिर उत्पन्न हुआ, फिर आंख की किरणों ने फोड़ दिया, फिर उत्पन्न हुआ, फिर फोड़ दिया तो ऐसा बराबर उत्पन्न होता रहता है तो उसमें फिर लगातार होने से वैसा का वैसा ही नवीन कांच हाथ द्वारा पकड़ लिया जाता। इसीलिए लगता है, ऐसा कि वही का वही कांच है जैसा था। ऐसा शंकाकार के कहने पर उनसे यह पूछा जा सकता है कि जब आंख की किरणें उसको तोड़ती फोड़ती रहेंगी और वह कांच क्षण-क्षण में नया बनता रहेगा तो ऐसी स्थिति में आंख की किरण भीतर जाकर पदार्थ के साथ सम्बन्ध न कर सकेंगी, क्योंकि जब कांच बन गया, उतनी देर को किरणें रुक गईं तो इसमें देखने में व्यवधान पड़ते रहना चाहिए, लेकिन व्यवधान तो नहीं मालुम पड़ता, निरन्तर दिखाई देता है।

भावाभायात्मक पदार्थ में भाव या अभाव के किसी का एकान्त करने के मन्तव्य के पक्षपात में वस्तुस्वरूपसिद्धि की अशक्यता—यदि शंकाकार यह कहें कि यहाँ जैसे पहले आंख की किरणों ने कांच को फोड़ दिया। उसके बाद वह पहिले जैसा उत्पन्न हो गया। तो यहाँ समझिये—पहले कांच ढूँढ़ा, फिर उत्पाद हुआ, फिर फोड़ दिया, फिर उत्पन्न हुआ तो वह कहलाया तीसरे समय में उत्पाद, तो पहला समय और तीसरा समय ये जल्दी हुए

ना, फिर ५वें समय फिर ७वें समय ये उत्पाद जल्दी-जल्दी होते रहते हैं। तो बीच के समय का विनाश का तिरोभाव हो जाता है, वह समझ में ही नहीं आता विनाश, इस कारण वहाँ जो उपयोग लगा रहा है जीव उसको देखने में बाधा नहीं आती, क्योंकि आगे पीछे होने वाले उत्पाद के बीच विनाश तो छिप ही जाता है।

इस शंका के समाधान में सभी सोच सकते हैं कि जैसे पहले और तीसरे समय के उत्पाद में विनाश ढक जाता है तो ऐसे ही दूसरे और चौथे समय के विनाश के बीच का उत्पाद क्यों न ढक जायेगा? फिर तो जैसे कांच ही कांच सही दिख रहा, ऐसे ही निरन्तर टूटा फूटा हुआ दिखना चाहिए। इससे सिद्ध है कि न कांच टूटता है और न कांच को फोड़कर किरणें जाती हैं। यहाँ शङ्काकार कहता है कि जो हमें दिया है कि आंख की किरणों के टक्कर के कारण कांच टूटता रहता है और तुरन्त नया बनता रहता है, इसमें जो यह कहा था कि उत्पत्ति जल्दी-जल्दी होती रहती है, इसलिए उत्पत्ति के बीच विनाश दब जाता है, और इसके एवज में यह प्रसंग चलाया कि जैसे उत्पत्ति के बीच विनाश दब जाता, ऐसे ही विनाश के बीच उत्पत्ति क्यों नहीं दब जाती? और तब तो कांच हमेशा टूटा-फूटा ही दिखना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि शङ्काकार ही कह रहा है कि जो दो उत्पाद हैं उनके बीच जो विनाश है सो विनाश तो है अभावरूप और उत्पाद है भावरूप। तो भाव स्वभाव बलवान होता है, इस कारण से उत्पादों के द्वारा विनाश का तिरोभाव होता है, क्योंकि अभाव तो दुर्बल चीज है। अभाव क्या है? अभाव में कोई बल है क्या? चीज में ही तो बल होता है, जो सद्भावरूप है। सो उत्पाद है सद्भावरूप और विनाश है अभावरूप, सो भाव होता है दुर्बल और सद्भाव होता है बलिष्ठ। इसलिए जो कांच उत्पन्न होते रहते हैं उन्होंने कांच के विनाश को दबा दिया। शंकाकार की उक्त शंका का समाधान यह है कि यह कहना कि भाव बलवान होता है और अभाव दुर्बल होता है, यह युक्त कथन नहीं है। भाव और अभाव दोनों समान बल वाले होते हैं, क्योंकि इनमें से यदि यह कहा जाये कि अभाव बलवान नहीं है तो वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती और यह कहा जाये कि भाव बलवान नहीं है तो वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती।

जैसे कहा कि यह पुस्तक है तो यह पुस्तक पुस्तक के सद्भावरूप है और वस्तु से अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों के अभावरूप है। अब इनमें से किसको दुर्बल कहेंगे? पुस्तक अपने चतुष्य से है, इसको अगर दुर्बल कहा, तो पुस्तक न रहो और पुस्तक अन्य पदार्थ रूप नहीं है। अगर अन्य रूप नहीं है इस भाव को दुर्बल कहेंगे तो इसके मायने हैं कि अन्य रूप हो गया। फिर पुस्तक न रही, इसलिए वस्तु में सद्भाव और अभाव दोनों ही समान बलवान हैं। वस्तु का स्वभाव ही है यह कि अन्य से विविक्त रहे और अपने एकत्व में रहे। और भी देखिये अभाव कितना बलिष्ठ होता है? अभाव चार प्रकार के बताये गए हैं—(१) प्रागभाव, (२) प्रधंसाभाव, (३) इतरेतराश्रय भाव और (४) अत्यन्तभाव। यदि वस्तु में प्रागभाव न मानते, उसे दुर्बल कर देते, हटा देते तो इसका अर्थ यह है कि किसी भी वस्तु के पहले पर्याय में अभाव नहीं है। इसके मायने हो गये कि अवस्था अनादि है, याने प्रत्येक अवस्था अनादि है और यदि प्रधंसाभाव नहीं मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि किसी भी अवस्था का उत्तरपर्यायों में अभाव नहीं है। तो अवस्था अनंतकालीन हो जायेगी। अन्योन्याभाव और अत्यन्तभाव नहीं मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि सब कुछ, सब कुछ रूप है तो चीज ही न रही। तो कैसे कहा जाये कि अभाव बलवान नहीं होता। तब यह ही समस्या खड़ी रही कि

चक्षुइन्द्रिय की किरणें अगर काँच से भिड़कर चलीं जाती हैं तो कांच का टूटना मालूम होना चाहिए या जल्दी उत्पन्न हो जाता है कांच तो उस ज्ञान का अन्तर मालूम होना चाहिए कि जब कांच बने तो चीज न दिखे आगे की । जब कांच टूटे तब चीज दिखे आगे की । इससे चक्षुइन्द्रिय को प्राप्यकारी कहना उचित नहीं है । तो चक्षु अप्राप्यकारी हुई और अप्राप्यकारी होने से चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो जाना जायेगा वह स्पष्ट जाना जायेगा इसी कारण व्यञ्जनावग्रह चक्षुइन्द्रिय से नहीं बनता । ज्ञान का कैसा विलास है कि किस आत्मा का ज्ञान, किस पदवी में, किस रूप में चलता है यह सब ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदिक पर निर्भर है, क्योंकि अन्तरङ्ग कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम आदिक ही है ।

प्रकाश द्वारा नेत्ररश्मियों के अविभाव हो जाने की कल्पना में ज्ञान का अभाव—अब अन्य बात पर विचार करो । भला यह बतलाये कोई कि नेत्रों की किरणें कहीं प्रसिद्ध भी हैं? फिर तो यह बाद में कहें कि वे किरणें दनादन निकलती हैं और काँच को तोड़कर आगे चली जाती है । हम लोगों के किसी के भी नेत्र की किरणें देखी ही नहीं जाती । शंकाकार यहाँ कहता है कि देखो जैसे कोई छोटी रोशनी का दीपक है या बहुत सी छोटी मोमबत्ती जल रही है, अब दिन में धूप में रखा हुआ वह दीपक जब कि खूब तेज रोशनी सूर्य की है तो वह कुछ दिखता है क्या? क्यों नहीं दिखता अथवा क्यों कम दिखता? यों कि सूर्य की रोशनी से उस टिमटिमाते दीपक की रोशनी दब गई है, ऐसे ही जब उजेला होता है तो उस उजेले के द्वारा आंख की किरणें दब जाती हैं । इसलिए लोगों को आंख की किरणें दिखती नहीं हैं ।

इस शङ्का का समाधान यह है कि अगर उजेला ने आंख की किरणों को दबा दिया और नहीं दिखता है तो रात्रि में तो दिखनी चाहिएं नेत्र की किरणों निकलती हुई, क्योंकि वहाँ उजेला नहीं हैं, कोई दबाने वाला है नहीं, इस कारण एक कल्पना बनाना कि आंख में किरणें होती । वे किरणें पदार्थों से संघर्ष करती हैं तब पदार्थ जाना जाता, इस कल्पना से क्या लाभ है?

चक्षु के तैजसत्व और रश्मिवत्व की असिद्धि—शंकाकार यहाँ कहता है कि आंख में किरणें तो हैं, पर वे किरणें अनुदभूत रूप हैं, याने उनका रूप, उनका तेज प्रकट नहीं है, भीतर ही है, इस कारण से लोगों को आंख की किरणें नहीं दिखती । ऐसी आशंका करने वाले कोई प्रमाण तो दें, जिससे यह सिद्ध हो जाये कि किरणों का रूप तो प्रकट नहीं है, बाहर दिखता नहीं है, मगर है जरूर । इसकी सिद्धि करने के लिए वे कोई प्रमाण तो दें । शंकाकार प्रमाण देता है कि देखो आंखें किरणों वाली हैं, क्योंकि तैजस होने से । जो-जो तैजस होता है वह किरणों वाला होता है, जैसे दीपक तैजस है । तैजस मायने अग्नि से बना हुआ । सो उसमें किरणें हैं । तो ऐसे ही आंखें भी अग्नि से बनी हैं, तैजस हैं, इस कारण किरणें जरूर होनी चाहिएँ । कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि शरीर में जो गंध वाली चीज हैं वह तो पृथ्वी से बनती, और शरीर में जो रसीली चीज है वह जल से बनती है और जो स्पर्श वाली चीज है वह वायु से बनी और आंखें अग्नि से बनीं, या इन्द्रिय में लगायें । स्पर्शनइन्द्रिय वायु से बनी, रसनाइन्द्रिय जल से बनी, घ्राणइन्द्रिय पृथ्वी से बनी और चक्षुइन्द्रिय अग्नि से बनी, कानों को आकाश से बना कहते हैं । तो ऐसा, कहने वाले लोगों ने इन शङ्काकार को ऐसा समझ रखा कि आंखें अग्नि से बनती हैं और उसमें किरणें होती हैं । उसी आधार पर यह अनुमान बना रहे हैं कि नेत्र

किरणों वाली होते हैं, क्योंकि तेजोद्रव्य से बने हुए है, और कोई कहे कि आंखें तैजस हैं, उसको ही सिद्ध करो, तो सुनो—आंखें तेजोद्रव्य से बनी हुई हैं, क्योंकि, पदार्थ में रस, गंध, रूप, शब्द इकट्ठे है, लेकिन आंखें रूप को ही देखती हैं, इससे आखें अग्नि से बनी हुई हैं, ऐसा शङ्काकार कहता है ।

इसके समाधान में कहते हैं कि आंख अग्नि से बनी हुई है, ऐसा सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया है कि चूंकि वह केवल रूप का ही प्रकाश करती है तो यह हेतु सही न रहेगा, क्योंकि चन्द्रमा भी रूप का प्रकाश करता है, पर चन्द्रमा तो अग्नि से नहीं बना । तो जब आंखें तैजस ही नहीं हैं तो किरणें कहां से आयेंगी? और जब आंखों में किरणें नहीं होतीं तो आंखें छूकर कैसे जानेंगी? इससे सीधा यह मानना चाहिए कि और इन्द्रियां तो छूकर जानती हैं, पर आंखें पदार्थ को छूकर नहीं जानती, ये बिना छुवे ही जानती हैं, और जो बिना छुवे जाने वह साफ जानेगा, स्पष्ट जानेगा । तो चक्षु स्पष्ट जानते है, इस कारण व्यञ्जनावग्रह चक्षुइन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न नहीं होता ।

प्रकाशापेक्षी हेतु बताकर चक्षु को तैजस सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास—यदि चक्षु के किरणें होतीं, चक्षु तैजस होता तो चक्षु से देखने के लिए फिर प्रकाश की जरूरत न रहती । क्योंकि जो तैजस होता है उससे खुद ही प्रकाश होगा, फिर अन्य प्रकाश की क्या जरूरत? लेकिन जरूरत पड़ ही रही है, मनुष्य प्रकाश के बिना देख नहीं सकता । तो इससे सिद्ध है कि चक्षु किरणों वाली चीज नहीं है, तैजस नहीं है । अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बात यह है कि जैसे कोई दीपक बहुत हल्का प्रकाश रखता है, टिमटिमातासा है तो फिर उस दीपक से काम नहीं चलता । तो अन्य और बड़े दीपक की जरूरत पड़ती है । इसी प्रकार जो नेत्र की किरणें हैं वे स्वयं प्रकाशी है इसलिए, उन्हें सूर्यचन्द्र आदिक में प्रकाश की जरूरत पड़ती है, क्योंकि अपने द्वारा जो काम होता है उसमें सहायता मिलती है समान जाति वाले कारण से, इससे नेत्र तैजस है और तैजस ही होने के कारण उनकी मदद के लिए सूर्य आदिक बड़े प्रकाश की अपेक्षा बनती है ।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि देखो जैसे कोई कितना ही छोटा दीपक है टिमटिमाता सा, उसे अपने आपके प्रकाश के लिए अन्य सूर्यादिक की अपेक्षा नहीं होती । तो कम से कम मंद दीपक भी हो तो उसमें स्वभाव तो पड़ा है कि वह अपना और पदार्थ का प्रकाश करता है, लेकिन मनुष्यों को तो कभी भी यह नहीं देखा जाता कि आलोक के बिना वे देख सकें । मंद से भी मंद दीपक हो तो उसे भी अपने प्रकाशन के लिए अन्य दीपों की आवश्यकता नहीं होती । हां, बड़े लम्बे-चौड़े पदार्थों के प्रकाश के लिए अच्छे दीपक की जरूरत होती है । तो मंद दीपक में भी जैसे किरणें दिखाई देती तैजसपन नजर आता उतना तो नेत्र में आना चाहिए, सो बात नहीं है । इससे सिद्ध है कि नेत्र तैजस नहीं हैं । यहाँ शंकाकार कहता है कि आलोक के बिना भी तो दिखता है ना कुछ न कुछ । क्या दिखता है? अंधेरा दिखता हो तो प्रकाश के बिना अंधेरे का तो प्रतिभास होता है रात्रि में । तो कुछ न कुछ तो ज्ञान में आया फिर प्रकाश की आवश्यकता का आग्रह क्यों किया जा रहा? समाधान करते हैं कि देखो आप शङ्काकार वैशेषिकों के यहाँ अंधकार कोई चीज नहीं मानी गई, याने ज्ञान का अभाव होना यह ही अंधकार कहलाता है, फिर अन्यकार का दिखना थोड़े ही है । वह तो ज्ञान का अभाव हैं । हाँ जैनसिद्धान्त में अवश्य अन्यकार भी पुद्गल की पर्याय है और प्रकाश भी पुद्गल की पर्याय है ।

तो शंकाकार कहता है कि जैनों ने तो माना है अंधकार को पुद्गल की पर्याय और उसको जान लिया, तो यों जानना कह लो। तो भाई जैसे यहाँ जैनों के सिद्धान्त की बात कहकर तुम समर्थन करते हो तो सीधी यही क्यों नहीं जैनसिद्धान्त की बात माना लेते कि चक्षु अप्राप्यकारी हैं और वे पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं और फिर शंकाकार जो यह कह रहा था कि चक्षु तैजस हैं और उसको अपना अतिशय बढ़ाने के लिए तैजस द्रव्य की अपेक्षा रहती है, प्रकाश आदिक की अपेक्षा रहती है, सो यह कहना भी उचित यों नहीं है कि देखो आंख की रोशनी बढ़ाने के लिए या देखने की शक्ति बढ़ाने के लिए अंजन लगाया जाता है तो अंजन तो तैजस नहीं है, कोई प्रकाश की चीज तो नहीं है, तो इसमें अतैजस भी सहकारी हो जाता है। इसलिए यह भी नियम न बना कि आलोक की सहायता मिलना, इससे चक्षु तैजस सिद्ध हुआ। शङ्काकार कहता है कि अंजन आदिक भी तो तैजस माने गए हैं। हां उनमें तैजसपना अप्रकट है। कहते हैं कि यह बात भी गलत है, क्योंकि आंखों से देखने में चन्द्रमा की किरणें भी सहकारी हैं, लेकिन चन्द्र को तो तैजस माना भी नहीं है। इससे व्यर्थ के विशेष प्रलाप और प्रयास करना व्यर्थ है। सीधा सादा सिद्धान्त है जैसा कि लोगों को विदित है कि नेत्र में किरणें नहीं होतीं और वह दूर से ही जान लेता है और स्पष्ट ज्ञान होता है और इसी कारण चक्षुइन्द्रिय के द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

अनुद्भूतरूप एवं अनुद्भूतौष्ण्य चक्षु के तैजसत्व की असिद्धि—दूसरी बात यह है कि जो यह कहा जा रहा कि नेत्र हैं तो तैजस, मगर अप्रकट रूप वाले हैं, सो शङ्काकार के सिद्धान्त में दो बातें मानी गई हैं—जो अग्नि से बनी हुई चीज है उसमें चमक और गर्मी दोनों होती हैं और यह भी कहते हैं कि किसी-किसी तैजस में चमक प्रकट न हो तो उष्णता प्रकट है। जिसमें उष्णता प्रकट न हो तो चमक प्रकट है। किसी में दोनों प्रकट है। जैसे दोनों जहाँ प्रकट हैं उसका वृष्टान्त दिया है दीपक और जहाँ चमक प्रकट नहीं वहाँ उष्णता प्रकट है। उसका वृष्टान्त है गर्म जल। शङ्काकार नैयायिक व वैशेषिक जल में अग्नि घुस गई ऐसा मानते हैं, तो वह गर्म तो हो गया और रूप अप्रकट है और स्वर्ण को तैजस मानते हैं तो उसमें रूप तो प्रकट है और गर्मी अप्रकट है। कैसे ही मानें, मगर नेत्र में तो दोनों ही बातें प्रकट नहीं हैं इस कारण तैजस नहीं हैं नेत्र। शंकाकार कहता है कि नेत्र तैजस हैं, क्योंकि उष्ण वीर्यस्वभाव है उसका, याने नेत्र में उष्णत्व की शक्ति है तब ही तो नेत्र में कोई जीव आ जाये तो वह मर जाता है, क्योंकि नेत्र में गर्मी का स्वभाव है। कहते हैं कि यह बात कहना भी प्रलाप मात्र है। काली मिर्च भी उष्ण वीर्य है। जो कोई खाता है उसमें उष्णता लाती है, तिक्त है, चर्परा है, पर तेजस तो नहीं है। और आंखें बन्द हो जाती हैं तो घबड़ाहट से जीव मर जाता है जो आंख के अन्दर जाये पर इससे वे तैजस नहीं कहलाती। ऐसे ही एक क्या अनेक दोष हैं।

मनोनियंत्रित होकर चक्षुरश्मियों के काम करने की कल्पना में तथ्य का घात—शंकाकार यहाँ मानता है कि आंख से किरणें तो निकलती हैं और उनपर मन का कज्जा रहता है, तो मन के नियंत्रण में किरणें काम करती हैं। सो मन तो माना गया है परमाणु बराबर शंकाकार के यहाँ, तो परमाणु बराबर मन ज्यादा से ज्यादा एक किरण पर नियंत्रण कर ले, पर सब किरणें पर कैसे नियंत्रण करता? और जब सब किरणें पर नियंत्रण नहीं होता तो पर्वत जैसी बड़ी चीज क्यों एक साथ पूरी दिख जाती है?

शंकाकार कहता है कि बात यह है कि पर्वत है? निरंश, अखण्ड, अवयवी, एक। सो एक किरण पर भी मन का नियंत्रण हो तो एक किरण से भी देखा हो तो सारा दिख जाता है। यह कहना क्यों ठीक नहीं कि फिर तो यह बतायें कि कमरे में अगर भिन्न-भिन्न चीजें रखी हैं बहुतसी और उनका जो ज्ञान हो जाता है सो फिर वह कैसे होगा? क्योंकि वे चीजें अवयवी एक अखण्ड तो नहीं हैं। पचासों चीजें रखी हैं। जुदी-जुदी हैं। वह। कैसे मन का नियंत्रण बना लोगे? और भी सुनो—यह मानते हैं शंकाकार कि आंख से किरणें निकलती हैं और पदार्थ को छूती हैं तब वे पदार्थ जानने में आते हैं। सो देखो जब कभी किसी को चन्द्रमा दिखता है तो बीच में जैसे मान लो पेड़ रखा है और पेड़ के बीच में से वह चन्द्र दिख रहा है तो जब नेत्र से किरणें निकले तो किरणों के चलने में कुछ देर तो लगेगी। जैसे यहाँ रोशनी की गति में देर लगती है, पर नेत्र की किरणों ने पहले तो वृक्ष को छुवा और अब चन्द्रमा कितनी दूर है? बहुत दूर। लेकिन देखने वालों को दिखता है कि सब कुछ एक साथ देख लिया गया। तो एक साथ दिखता है। इससे मानना चाहिए कि किरणें नहीं हैं। नेत्र से देखते हैं तो दूर हो, पास हो, सब कुछ एक साथ दिख जाता है।

छद्मस्थ ज्ञान के बहिरंग साधनभूत इन्द्रियों की विशेषतायें—जब यह तथ्य है कि अन्य इन्द्रिय की भाँति चक्षु भी एक पौद्गलिक इन्द्रिय है, भौतिक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रिय में तो यह बात है कि वे भिड़कर जानें, मगर चक्षु इन्द्रिय में यह बात नहीं कि भिड़कर जानें और इसीलिए काँच नहीं टूटता है, पर काँच पारदर्शी है, उसके पीछे रहने वाली चीजें भी दिख जाती हैं। उससे कोई बाधा नहीं आती। तो ये सारी बातें सही हैं। इसकी पहचान है कि नेत्र में किरणें नहीं हैं, न नेत्र प्राप्यकारी हैं। वे बिना छुवे ही जानने वाले हैं। तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि इन ५ इन्द्रियों में चक्षुइन्द्रिय तो है ऐसी कि बिना छुवे, बिना भिड़े पदार्थ को जानती है। अन्य इन्द्रियों में अप्राप्यकारिता नहीं। कर्णइन्द्रिय में यह कला है कि वह बिना बांधे शब्द को जानती, मगर बिना छुवे नहीं जानती। याने कान शब्दों को चबाता नहीं है, स्पर्श मात्र को जान लेता है, लेकिन घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शन—ये पदार्थों को छूकर व बांधकर जानते हैं। जैसे मुख से न चबाया जाये तो रस नहीं जात होता, हाथ से न जोर दिया तो स्पर्श नहीं जाना जाता, पर नेत्र जो हैं वे बिना बांधे और बिना छुवे को ही जानते हैं।

अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि नेत्र बिना छुवे को जानता है तो बहुत दूर की चीज, सुमेरुर्वत या बहुत पहले की चीज राम रावण आदिक जो हुए उन सबको क्यों नहीं देख पाते, क्योंकि नेत्र बिना छुवे जानते। वे भी बिना छुवे हैं। इसके उत्तर में यह पूछा जा रहा है कि शङ्काकार यह बतायें कि घ्राणइन्द्रिय तो छूकर जानती है ना? तो अनेक परमाणु घ्राण पर लोट रहे हैं, उनकी गंध क्यों नहीं जान लेते? यदि कहो कि ऐसी योग्यता है कि घ्राण स्थूल पदार्थ को जाने, परमाणुओं की गंध को न जाने तो यही बात आंख के सम्बंध में कह लो कि आंख इतनी दूर रखी हुई चीज को ही जाने, इससे बहुत दूर का न जाने। यह तो नेत्र शक्ति पर आधारित बात है। तो जैसे घ्राणेन्द्रिय आदिक से जानने में एक अदृष्ट को, शक्ति को बीच में लाते हो, तो यही बात सब जगह है। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस विधि से जानने की बात होती है, ज्ञानावरण का क्षयोपशम होनेपर उस इन्द्रिय से उस विधि से जाना जा सकता है। इस प्रकार इस मतिज्ञान के भेदों के प्रकरण में मतिविशेष का

जो वर्णन चल रहा है और उसकी सब विधियां बतायी जा रही हैं उनमें यह कहना बहुत युक्तिसंगत है कि अर्थावग्रह तो स्पष्ट पदार्थ का होता है और व्यञ्जनावग्रह अव्यक्त पदार्थ का होता है, और व्यञ्जनावग्रह आंख और मन से उत्पन्न नहीं होता ।

चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करने के लिये दिये गये भौतिकत्व हेतु की अयुक्तता—जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनका सिद्धान्त प्रत्यक्ष से बाधित है, अनुमान से बाधित है और उनके आगम से भी बाधित है । यह बात अब तक कही गई है । अब किसी अन्य हेतुओं का भी विचार करें तो वह भी दूषित ही बनेगा । जैसे कोई कहे कि चक्षु प्राप्यकारी है अर्थात् पदार्थ को छूकर ही जानता, क्योंकि भौतिक होने से तो उनका यह हेतु सही नहीं है । क्या जो-जो भौतिक है वह प्राप्यकारी ही होता है? जैसे किसी प्रकार खली या भुस के साथ सूई भी चली जाये गाय भैंस के पेट में, तो जानकार लोग क्या करते हैं कि उसके शरीर के ऊपर चुम्बक लोहा फेरते हैं और पेट में रहने वाली सूई उसके अनुसार फिरती है और उस विधि से उसे निकाल लेते हैं, तो भौतिक ही तो है चुम्बक, मगर प्राप्यकारी तो न रहा और फिर भी उसको ग्रहण करने का साधन बना हुआ है । इस विषय में और-और कल्पनायें करना केवल मनगढ़त बात है ।

जैसे कोई कहे कि कोई इत्र या गंध की चीज कहीं रखी है और उसे उठा लें तो भी वहाँ गंध रहती है । गंध के परमाणु फैल गए, ऐसे ही इस चुम्बक के परमाणु भी निकलकर पेट में पहुंच गए और सूई को खींचने लगे तो ऐसी प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना केवल मनगढ़त ही है । किसी ने भी चुम्बक के परमाणुओं को अलग होता हुआ देखा नहीं । वह ठोस पदार्थ है । फैलने वाली चीज नहीं होती । तो भौतिक है, ऐसा हेतु देकर चक्षु को प्राप्यकारी नहीं सिद्ध किया जा सकता । इसी तरह कोई कहे कि चक्षु जानने का साधन है, इसलिए प्राप्यकारी है । जैसे कि अन्य-अन्य इन्द्रिय । तो जो साधन हो वह प्राप्यकारी ही हो, यह भी बात सिद्ध नहीं होती । जैसे मन साधन है जानने का, पर प्राप्यकारी नहीं, कोई वशीकरण, निर्विषीकरण आदिक मंत्र हैं, वे दूसरे में चिपटे तो नहीं हैं, प्राप्यकारी नहीं होते, फिर भी काम होते हैं । जैसे सर्प ने डस लिया, अब कोई मंत्रवादी मंत्र द्वारा सर्प का विष उतार लेता, सर्प को भी बुला लेता तो कहीं वह सर्प के पास नहीं गया, न चिपटा, लेकिन निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा । सभी जगह प्रायः निमित्तनैमित्तिक योग देखा जा रहा है । सूर्य का प्रकाश फैल रहा तो क्या सूर्य अपने स्थान को छोड़कर यहाँ प्रकाश फैलाने आता है । निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा । तो ऐसे ही यह भी निमित्तनैमित्तिक योग है कि चक्षुइन्द्रिय के व्यापार से दूर रहने वाली चीज को बिना छुवे जान लिया जाता है । इस तरह चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी है और इसी कारण उससे स्पष्ट अर्थ जाना जाता है । व्यञ्जनावग्रह की उत्पत्ति चक्षुइन्द्रिय से नहीं होती और इसी प्रकार मन से भी व्यञ्जनावग्रह नहीं बनना ।

ग्राणेन्द्रिय की तरह कर्णेन्द्रिय में भी प्राप्यकारिता की सिद्धि होने से उपालम्भ का अनवकाश—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि जैसे चक्षु को अप्राप्यकारी कहते हो, इसी प्रकार कर्ण भी तो अप्राप्यकारी जंच रहा है । कर्ण भी कहाँ बाहर जाते हैं शब्द को सुनने के लिए । और व्यवहार भी देखा जाता है । लोग कहते हैं कि हम इतनी दूर के शब्द सुनते हैं तो शब्द भी कर्ण द्वारा बिना भिड़े जाने गए तो चक्षु की तरह श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी कहना चाहिए । समाधान में कहते हैं कि यों तो गंध के विषय में भी व्यवहार देखा जाता । मैं

बहुत दूर तक की गंध का गंध लेता हूँ, ऐसा लोग कहते भी हैं। तो ऐसे व्यवहार से अगर अप्राप्यकारी मान लिया जाये तो ग्राणइन्द्रिय भी अप्राप्यकारी बन बैठेगी। मगर शङ्काकार तो ग्राणेन्द्रिय के विषय में दृढ़ता से प्राप्यकारीपन की बात करते हैं। नो गंध के विषय में जो-जो भी समाधान देंगे शङ्काकार, वही समाधान शब्द के विषय में भी है। शङ्काकार कहता है कि जिसमें तेज गंध है और उसकी वासना जिस-जिस साधन में हो गई है या उससे जो-जो द्रव्य सम्बन्धित हो गया है, अब उस दूरपने से उसका ज्ञान होता है। हुआ तो भिड़कर। दूर से गंध किसी और में आयी, उससे और पास में आयी, इस तरह से स्कंध ग्राणइन्द्रिय में गए मगर लोग ऐसा समझते हैं कि उसकी गंध ले रहे हैं जो बहुत दूर रखा है। बस यही समाधान शब्द में है। शब्द भी बोले जाते हैं तो उसका सम्बन्ध पाकर और निकट के भाषावर्गण शब्दरूप बनते हैं और इस तरह बनते चले जाते हैं तब जो कर्ण के विवर में शब्द पहुंचा वह सुनाई देता है।

शङ्काकार यदि यह कहे कि भीतादिक के व्यवधान में कोई शब्द बोल रहा हो तो उस शब्द का ज्ञान हो जाता है। इससे सिद्ध है कि श्रोत्रइन्द्रिय अप्राप्यकारी है। तो बस यही समाधान गंध में लगायें कि भीतादि के व्यवधान में कोई गंध वाली चीज रखी है और उसका गंध आ जाता है, तो यों गंध ज्ञान के साधन ग्राणेन्द्रिय को भी अप्राप्यकारी मान लें। इस तरह जैसे गंध एक पौद्गलिक पदार्थ है ऐसे ही शब्द भी पौद्गलिक पदार्थ है। यह छूकर भिड़कर जानती है। इस तरह जैसे गंध का ज्ञान प्राप्यकारी विधि से होता, है, ऐसे ही शब्द का ज्ञान भी प्राप्यकारी विधि से होता है। और जैसे ग्राणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी है स्पर्शन और रसना भी प्राप्यकारी है, इस विषय में तो किसी को विवाद ही नहीं है। इस तरह इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि चक्षु और मन के द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, क्योंकि यह अप्राप्यकारी है और अप्राप्यकारी साधन से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट ज्ञान होता है, व्यञ्जनावग्रह में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। अब मतिविशेष का वर्णन करने के बाद श्रुतज्ञान का वर्णन करते हैं।

सूत्र 20

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो अनेक और १२ भेद होते हैं याने पहले तो दो भेद किए—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्ट के १२ भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट का अर्थ है जो अङ्गरूप श्रुत है। द्वादशाङ्ग श्रुत बोलते हैं, और द्वादशाङ्ग श्रुत के अतिरिक्त जो कुछ और बच जाता है वह अङ्गबाह्य कहलाता है। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि अभी-अभी मतिज्ञान का प्ररूपण हुआ है, उसके बाद ही इस सूत्र के कहने का प्रयोजन क्या है? तो उसका समाधान यह है कि यह बताना इस सूत्र का प्रयोजन है कि इस परोक्ष श्रुतज्ञान का निमित्त कारण क्या है और उस श्रुतज्ञान के भेद कितने हैं और उन भेदों के भी भेद कितने हैं? इस सूत्र में तीन बातों का निर्णय किया गया है—श्रुतज्ञान किस निमित्त से होता है? श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं और श्रुतज्ञान के भेदों के भेद कितने हैं? यह सब बताने का कारण यह है कि कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि श्रुत याने आगम नित्य शब्दों का निमित्त पाकर हुआ है। कोई मानते हैं कि पुण्य से या

भावना से या आशीर्वाद से या ईश्वर के निमित्त से आगमज्ञान होता है—ऐसी अनेक धारणायें हैं। उनका समाधान देने के लिए यह कहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। दूसरा प्रसंग यह है कि श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। यह बात इसलिए कहानी पड़ी कि श्रुत याने आगम के विषय में भी लोगों की अनेक भेदों की धारण है। कोई कहते हैं कि चार भेद हैं क्रज्जुवेद आदिक, कोई कहते हैं कि उनके ६ अङ्ग हैं शिक्षा व्याकरणादिक, कोई तीन वेद और तीन उपवेद कहकर ६ वेद मानते हैं। कोई उस आगम के दो भाग मानते हैं—(१) ब्राह्मणभाग और (२) यंत्रभाग। कोई भेद ही नहीं मानते। एक ही ब्रह्म प्रतिपादक मानते हैं, आदिक अनेक प्रकार के विचार हैं। उनका समाधान करने के लिए बताया गया है कि श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। और फिर उन भेदों के भी भेद बताये हैं कि अंग बाह्य के अनेक भेद हैं और अंग प्रकृष्ट के १२ भेद हैं। इस तरह तीन बातों का विवरण इस सूत्र में किया है कि श्रुतज्ञान किस निमित्त से होता है और श्रुतज्ञान के भेद कितने हैं तथा उन भेदों के भेद कितने हैं?

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि श्रुत क्या चीज है? क्योंकि श्रुत के तो अनेक अर्थ हैं—शास्त्र, अर्थ, सुने गए शब्द। तो यहाँ श्रुतज्ञान का क्या अर्थ है? तो श्रुत का अर्थ समझने के लिए इसके प्रसंग की बात जाननी होगी। प्रसंग चल रहा है कि वस्तु के स्वरूप का अधिगम किन उपायों से होता है? तो सूत्र कहा गया था कि प्रमाण और नयों से पदार्थ का अधिगम होता है। तो प्रमाण क्या है? उसका ही विवरण चल रहा है। प्रमाण ५ बताये गए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो चूंकि ज्ञान का प्रमाण है, ज्ञान की अनुवृत्ति है इससे श्रुत का अर्थ हुआ श्रुतज्ञान, न कि केवल सुने हुए शब्द मात्र। शब्द सुनकर जो ज्ञान किया जाता है वह है श्रुतज्ञान। तब एक जिज्ञासा ओर हो जाती है कि श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान किया गया है, तो शब्दात्मक श्रुत कैसे सिद्ध हो सकेगा?

समाधान यह है कि मुख्य प्रसंग तो श्रुतज्ञान का ही है और श्रुतज्ञान ही अर्थ है, मगर उपचार शब्द भी श्रुत कहलाता है। सूत्र में श्रुत शब्द दिया है, सो उसका मुख्यरूप से तो श्रुतज्ञान अर्थ है और उपचार से वह शब्दादिक श्रुत है, इसका भी ग्रहण करना चाहिए। और शब्दों के भेद के आधार पर दो भेद, अनेक भेद, १२ भेद कहे गए हैं। सो केवल शब्द का ही भेद नहीं है वहाँ, किन्तु उसके वाच्य अर्थ का भी विभाग है। इस तरह श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है और उपचार से वह समस्त आगम है। श्रुत शब्द श्रु धातु से बना है जिसका अर्थ श्रवण है, सुनना है। उस श्रु धातु में कृ प्रत्यय लग गया है और उससे श्रुत शब्द बना है। यहाँ श्रुत शब्द को भी उपचार से ग्रहण किया गया है। उसका कारण यह है कि श्रुतज्ञान का कारण शब्द है। जो प्रवचन है, आगम है वह श्रुतज्ञान का कारण शब्द है। वह प्रवचन दो भेद वाला है—अंगबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गप्रविष्ट में १२ अङ्ग आते हैं—(१) अचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञासि, (६) ज्ञातृकथा (७) उपासकाध्ययन, (८) अंतःकृतदशाङ्ग, (९) अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, (१०) प्रश्नव्याकरणाङ्ग, (११) त्रिपाक्सूत्राङ्ग और (१२) दृष्टिवादाङ्ग।

ये १२ अङ्ग हैं और इनसे अतिरिक्त सामायिक, चतुर्विंशति, स्तवनः, वंदना, प्रतिक्रमण आदिक ये सब अङ्गबाह्य हैं। यहाँ जैसे श्रुतज्ञान पूज्य है वैसे ही श्रुतज्ञान का एक आधारभूत यह शब्द श्रुत भी पूज्य कहा जाता है।

यह सम्यग्ज्ञान का अधिकार है, इस कारण केवल सम्यक् श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है और सम्यग्ज्ञान के ५ भेद बताये गए। उनमें से यह द्वितीय ज्ञान है और परोक्षज्ञान हैं।

“श्रुतंमतिपूर्वद्वनेनद्वादशभेदं” इस सूत्र में यह कहा जा रहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इतने शब्द में क्या-क्या तथ्य डाले हैं? एक तो यह बतायें कि श्रुत दो प्रकार का होता है—(१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। जो ज्ञानरूप है वह तो भावश्रुत है और जो अक्षरोंरूप है, शास्त्रों में लिखित है या भगवान की दिव्यध्वनि खिरी है वह सब द्रव्यश्रुत है। तो द्रव्यश्रुत भी नित्य नहीं और भावश्रुत भी नित्य नहीं। द्रव्यश्रुत तो शब्दरूप है। शब्द नित्य नहीं होते याने सदा वही का वही रहे, ऐसा नहीं होता। जैसे हम आप बोलते हैं तो शब्द बोला और वे शब्द मिट गए, और भावश्रुत ज्ञान की परिणति है। तो जो ज्ञान की अवस्था है वह उसी समय से है, अगले समय नहीं है। तो इस तरह न तो द्रव्यश्रुत नित्य है और न भावश्रुत नित्य है, ये दो बातें इस सूत्र में से कहे गए शब्दों से झलकती हैं। इसके अतिरिक्त तीसरी बात यह स्पष्ट होती है कि श्रुत किसी नित्य पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं कि व्यापक कूटस्थ है, शब्द के निमित्त से उत्पन्न होता है सो श्रुत का जो निमित्त है वह भी अनित्य है और श्रुतंमतिपूर्व इतने ही शब्द से चौथी बात यह ध्वनित होता है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है याने पहले मतिज्ञान हो, उसके बाद श्रुतज्ञान हो, अवधिज्ञानपूर्वक न होगा, अन्य ज्ञानपूर्वक न होगा।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि कोई-कोई श्रुतज्ञान ऐसे भी देखे गए हैं कि श्रुतज्ञान के बाद ही श्रुतज्ञान हो जाये याने मतिज्ञान से हुआ श्रुतज्ञान और उस मतिज्ञान से और श्रुतज्ञान हो जाये। जैसे धुवाँ दिखा और उससे अग्नि का ज्ञान किया, दूसरे को समझाया तो वह श्रुतज्ञान बन गया। फिर उस अग्नि की और भी विशेषतायें कहीं। तो ऐसे श्रुतपूर्वक भी श्रुत हुआ करता है। जैसे किसी पुरुष के द्वारा धूम शब्द सुना तो सुन करके झट यह जान गया कि जहाँ धुवाँ होता है वहाँ अग्नि होती है। तो पहले तो कानों से सुना तो। मतिज्ञान, फिर इसने धुवाँ कहा, ऐसा समझना श्रुतज्ञान, फिर उसके बाद और-और तर्क उठाना, अग्नि का अनुमान कराना, तर्कज्ञान करना और वितर्क करना, ये तो श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञाने बना करते हैं। फिर यह कहना कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसमें तो विरोध आया।

इसके समाधान में कहते हैं कि श्रुतंमतिपूर्व का यह अर्थ है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अब सापेक्ष हो या परम्परा हो। जैसे कोई कहता है कि मेरठ से मुजफ्फर नगर उत्तर में है तो मेरठ के बाद तो बीच में अनेक गांव पड़ते हैं, फिर कैसे कह दिया कि मेरठ से मुजफ्फरनगर उत्तर में है? तो भले ही पड़ें, मगर ऐसा व्यवहार देखा जाता। बीच के गांवों का नाम नहीं लेते। तो ऐसे ही श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो चाहे कितना भी श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ हो, लेकिन पहले श्रुतज्ञान अवश्य मतिज्ञानपूर्वक हुआ है। इससे श्रुतंमतिपूर्व में जो चार अर्थ ध्वनित हुए हैं वे सही हैं।

अब शंकाकार कहता है कि श्रुत तो केवलज्ञानपूर्वक भी होता है याने केवली भगवान केवल ज्ञान से जानते हैं और फिर उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। तो जो दिव्यध्वनि है वह तो श्रुत है और वह हुआ केवलज्ञानपूर्वक तो फिर यह कहना कैसे बने कि श्रुतमति पूर्वक होता है? इसके समाधान में कहते हैं कि जो भगवान की

दिव्यधनि खिरी वह श्रुत तो है, पर श्रुतज्ञान नहीं है। श्रुतज्ञान तो छद्मस्थ जीवों के होता है। भगवान के तो केवलज्ञान है और वहाँ ज्ञान का प्रकरण है इसलिए श्रुत शब्द से यहाँ कोरा श्रुत न लेना, किन्तु श्रुतज्ञान लेना और वह श्रुतज्ञान केवलज्ञानपूर्वक नहीं होता। केवली के श्रुतज्ञान ही नहीं है, फिर केवलज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान, यह शंका ही नहीं हो सकती। इस तरह श्रुतमतिपूर्व इस शब्द से जो चार बातें ध्वनित हुईं वे युक्तिसंगत हैं। पहली बात यह है कि श्रुत नित्य नहीं है। न तो द्रव्यश्रुत नित्य है, न भावश्रुत नित्य है। तीसरी बात—किसी भी धर्म के निमित्त से नहीं होता श्रुत, चौथी बात—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। चाहे श्रुत से श्रुत हो जाये, मगर पहले जो श्रुत हुआ वह मतिज्ञानपूर्वक ही होगा। इस तरह परोक्षज्ञान के प्रमाण में मतिज्ञान के वर्णन के बाद श्रुतज्ञान की बात कही गई है। अब यहाँ एक बात और विशेष समझनी है कि श्रुतज्ञान की जो उत्पत्ति होती है सो शब्द सुनने के बाद ही होती है, सो बात नहीं। किसी भी इन्द्रिय से कुछ भी ज्ञान करने के बाद श्रुतज्ञान हो सकता है। यद्यपि श्रुत शब्द में श्रुत पड़ा है और उसका अर्थ हैं शब्द सुनना और उससे यह प्रकट होता है कि शब्द सुनने में बाद श्रुतज्ञान जगता है। सो सीधा लगता तो है ऐसा कि श्रोत्र द्वारा शब्द सुनकर जो मतिज्ञान बना उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुत होता है, लेकिन यथार्थता यह है कि चाहे स्पर्शन इन्द्रिय को छूकर मतिज्ञान के बाद श्रुत बन जाये। जैसे कोई चीज छुई जाती, अब उसके ठंडे गर्म के विषय में और-और बातें समझना कैसे बना है आदिक, तो देखो स्पर्शनइन्द्रिय के मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान हुआ ना? इसी तरह शेष इन्द्रियों से जो मतिज्ञान होता है, चक्षुइन्द्रिय से कोई चीज दिखे के बाद भी श्रुतज्ञान हो सकता। श्रुतज्ञान कहते हैं उसे कि मतिज्ञान से जानकर फिर अन्य बात को समझना यह श्रुतज्ञान है। सो होता तो है ५ इन्द्रिय और मन पूर्वक मतिज्ञान से, किन्तु प्रसिद्धि शब्द से है, क्योंकि आगम शास्त्र, उपदेश इनमें शब्द ही तो हैं। और यहाँ एक विशिष्ट श्रुतज्ञान की बात चल रही है; शास्त्रज्ञान की बात। तो प्रधानता तो श्रोत्र मतिपूर्वक श्रुत है, यह बन सकता है। किन्तु नियम नहीं बन सकता, किसी भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान हो सकता है।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी तो श्रुतज्ञान में शामिल होना चाहिए, क्योंकि उसमें विचार होता है। स्मरण किया किसी का तो मन से कुछ जाना, तो उसमें विचार बनता है, तर्कणा बनती है, इसलिए वह श्रुतज्ञान ही कहलायेगा। कहते हैं कि नहीं, श्रुतज्ञान सभी मतिपूर्वक होते हैं। भले ही किसी श्रुत से श्रुतज्ञान बन जाये, पर वह तो मतिपूर्वक है, किन्तु स्मरण आदिक तो सब मतिज्ञान बनते हैं याने मन के द्वारा सीधा पदार्थ का स्मरण हो गया। अब उस स्मरण के बाद फिर अन्य बात विचारी जाये तो वह श्रुतज्ञान होगा। दूसरी बात यह भी समझें कि श्रुतज्ञान उत्पन्न होने का अन्तरंग निमित्त श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। भले ही अन्य-अन्य ज्ञान में श्रुतज्ञान के सहयोगी निमित्त बन जायें, लेकिन अन्तरङ्ग निमित्त तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। वह क्षयोपशम स्मृति आदिक में नहीं हैं, इस कारण स्मरण आदिक श्रुतज्ञान नहीं कहलाते, किन्तु मतिज्ञान ही कहलाता है। इससे यह बात समझना चाहिए कि जो ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हो, जिसमें अस्पष्ट तर्कणायें उठें, जो स्वसम्बेदन से निराला हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसा यह श्रुतज्ञान दो भेद वाला है और अङ्गबाह्य, अङ्गप्रविष्ट, और अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट के १२ भेद हैं। इन भेद-प्रभेदों में भी मुख्यता श्रुतज्ञान की है और गौणता इन शब्दों की है। शब्द के भेद हैं ये, यह तो गौण अर्थ है और ज्ञान के भेद हैं ये,

यह उसका मुख्य अर्थ है।

अब यहाँ कोई दार्शनिक शङ्का करता है कि ठीक कह रहे हो कि श्रुतज्ञान शब्द ज्ञानपूर्वक होता है, पर वे सब शब्द नित्य हैं, और नित्य शब्द में ही यह आगम बनता। उनका यह कहना यों युक्तिसंगत नहीं कि कहीं अचेतन से चेतन बनता है? शब्द तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। तो अज्ञानपूर्वक कहीं श्रुतज्ञान बनेगा, और फिर जैसे जो कुछ भी शब्द बोले जाते हैं अपौरुषेय वेद मानने वालों के यहाँ, जैसे अग्नि नीले आदिक। याने मैं अग्नि को पूजता हूँ तो इसमें ज्ञान ही तो बना। ज्ञान से ही तो सब कुछ जाना जा रहा है। शब्द से तो ज्ञान नहीं उठा, बल्कि ज्ञान ने शब्द को समझा, इसलिए शब्दों से आगम के ज्ञान की उत्पत्ति हुई—यह न कहना, किन्तु ज्ञान से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है और इस तरह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, यह भली-भांति समझे हुए हैं। श्रुत दो प्रकार का कहा गया है—(१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। द्रव्यश्रुत का अर्थ है आगमोक्त शब्दों का समूह और भावश्रुत का अर्थ है उनको सुनकर, बांधकर उनके अर्थ का ज्ञान करना। इस प्रसंग में एक दार्शनिक यह कहता है कि श्रुत को मतिपूर्वक कहा है, सो यह बात सही नहीं जंच रही, श्रुत आगम तो शब्दजन्य है और शब्द नित्य है। इस विषय में बताया गया था कि यह प्रतीति विरुद्ध है। जो भी शब्द बोले जाते हैं उन शब्दों का ज्ञानपूर्वक वेदन होता है। शब्द से ज्ञान प्रकट होता है, यह न होकर ज्ञान से शब्द का बोध होता है, क्योंकि सब कुछ ज्ञानपूर्वक ही है। रचना व्यवहार सब ज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिए शब्द कहो, श्रुत कहो, वह ज्ञानपूर्वक होता है, मतिपूर्वक होता है। यहाँ शङ्काकार यह कहता है कि शब्द की उत्पत्ति तो नहीं होती, पर शब्द की अभिव्यक्ति के लिए ज्ञान पहले हुआ करता है। शब्द तो नित्य है, पड़ा हुआ है, एक है, व्यापक है, उसकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे कोई पदार्थ पहले से पड़ा है और ऊपर कपड़ा डाल दिया तो कपड़ा उघाड़ने से उस पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। जिसके समाधान में कहते हैं कि शब्द की अभिव्यक्ति से ही सही, पर यह बताओ कि शब्द की अभिव्यक्ति क्या शब्द से न्यारी चीन है? वह भी तो शब्दस्वरूप है। अगर शब्द की प्रकटता शब्द से न्यारी चीज है तो यह शब्द की अभिव्यक्ति है, ऐसा न कहा जायेगा। उस अभिव्यक्ति को जिस चाहे का कह दिया जाये। अगर कहो कि उसमें सम्बन्ध है तो बस वही एक स्वभाव है, वही एकता है।

अथवा और समझो—जो यह कहते हैं कि शब्द की अभिव्यक्ति होती है तो उस अभिव्यक्ति का अर्थ क्या हुआ? जैसे कि बर्तन मलीन पड़ा है और उसे रेतादिक से रगड़ दिया जाये तो उसमें उज्ज्वलता प्रकट हो जाती है। तो उस उज्ज्वलता की अभिव्यक्ति क्या है? संस्कार। तो इसी प्रकार जो स्वर व्यञ्जन शब्दों की अभिव्यक्ति कहते हैं तो उसका अर्थ क्या है? संस्कार। तो संस्कार किसका किया गया? उस अक्षर का संस्कार हुआ या श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार हुआ या उस शब्द के ज्ञान के आवरण का विनाश हो जाना, इसका नाम संस्कार है। संस्कार का क्या अर्थ है? संस्कार तो वहीं रगड़ने से होता। जैसे बर्तनों को रगड़ के हो जाता, कुछ संस्कार नई चीज जलने से होता। जैसे भोज्य पदार्थों में मसालों का छोंक दे दिया तो वे सुवासित हो गए, या कोई अतिशय कर दिया जाये सो संस्कार है या उन शब्दों को रोकने वाली वायु हवा मुख चलना न चलना आदिक

था सो उसका छेद हो गया, सो संस्कार हो गया या शब्दावरण का क्षयोपशम क्षय विनाश हो गया वही संस्कार हो गया। इनमें से कोई भी विकल्प युक्तिसंगत नहीं बनता। वर्ण का संस्कार क्या? कोई शब्द है, जिसको कोई रगड़ता है या कान में रगड़ता है या दोनों रगड़े जाते हैं। हाँ शब्दज्ञान होता है ज्ञानावरण के विनाश से, सो ठीक ही है। श्रुतज्ञान जो होता है वह श्रुतज्ञानावरण के विनाश से होता है। तो यह कहना उचित नहीं कि शब्द से ज्ञान बना या वह शब्द ही अपौरुषेय आगम है। अरे श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। शब्द किसी ज्ञानपूर्वक होता है और शब्द को सुनकर किसी अन्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का उद्भव ज्ञानयोग्यता से हुआ, जीव उपादान में हुआ, शब्द की उत्पत्ति भाषावर्गण के स्कंधों में हुई। नित्य शब्द को मानने वाले जरा यह बतायें कि जब शब्द नित्य है? व्यापी है, एक है तो जब उसको अभिव्यक्ति होती है; तो समस्त काल और समस्त लोक में रहने वाले शब्दों का एक साथ उद्भव हो जाना चाहिए, क्योंकि शब्द एक है।

यदि शङ्काकार यह कहे कि कहीं भी शब्द की अभिव्यक्ति हो, हो तो जाती है पूरे लोक में, पर जिन जीवों का जितना भाग्य है, जैसी दृष्टि है उसके अनुसार उतना समझ में आता है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक कुछ और आगे क्यों नहीं बढ़ते जाते? सारे जगत को ही शब्दात्मक मान ले और कह दें कि है तो सारा जगत शब्दात्मक, पर जिन जीवों का जैसा भाग्य है, अदृष्ट है उसके अनुसार उनको चौंजें दिखती हैं। तो यह कोई उत्तर नहीं है। यदि कहें कि उस शब्द की एक जगह व्यक्ति होती तब तो शब्द एक न रहा, अनेक शब्द हो गए और उनको प्रकट करने वाले साधन भी अनेक हैं। इससे सीधा मानना चाहिए कि जैसे और-और पुद्गल स्कंध हैं, इसी प्रकार भाषावर्गण के भी पुद्गल स्कंध हैं और उपादान निमित्त योगवश अनुकूल शब्दों की उत्पत्ति हो जाती है, वह शब्द अवस्था है और अनित्य है। उन शब्दों के संग्रह से बना हुआ द्रव्यश्रुत है, यह भी नित्य नहीं है और द्रव्यश्रुत को जानकर फिर जो अनेक अर्थ समझे जाते हैं वे भावश्रुत हैं। यह भी ज्ञान की पर्याय है।

शंकाकार कहता है कि वचन जो बोले जाते हैं वे दूसरों को समझाने के लिए, सो शब्द तो वही हैं, पर समझाने के समय उनकी व्यक्ति होती है। शब्द किसीने बनाया नहीं, और यों आगम भी किसी ने बनाया नहीं। तो जो वचन का उच्चारण होता है और वह दूसरे के ज्ञानों का निमित्त कारण बन जाता है, सो इस पद्धति के कारण लोगों को भ्रम हो गया कि शब्द उत्पन्न होते हैं और यही कारण है, चूंकि शब्द नित्य हैं आगम नित्य है, इस वजह से अपौरुषेय आगम का, वेद का कोई कर्ता का स्मरण नहीं हो पाता।

दूसरी बात है कि यदि कहा जाये कि सभी लोग अपने-अपने आगम के कर्ता मानते हैं, उनका स्मरण होता है तो अपौरुषेय वेद के भी कर्ताओं का स्मरण किया जाता है। तो शंकाकार कहता है कि जब वेदों का कोई एक कर्ता नहीं ख्याल में आता, लोग अनेक कर्तारूप से स्मरण करते तो इससे सिद्ध है कि कर्ता नहीं है। समाधान में कहते हैं कि भाई जो वेद है, जिसे अपौरुषेय कह रहे हो उसके अनेक खण्ड, अनेक विभाग हैं। किसी खण्ड को किसी ने बनाया, किसी को किसी ने, इसलिए अनेक कर्ताओं का स्मरण किया जाता है और

फिर जो रचना है, नवीनता है जिसमें, उसे कर्ता का स्मरण न होने से अपौरुषेय कह दिया जाये। अनेक पुराने टूटे कुवें हैं, टूटे-फूटे महल हैं, जिनके कर्ता का स्मरण भी नहीं होता कि किसने बनाया, तो क्या वे सब भी अपौरुषेय बन जायेंगे? इसलिए आगम हैं। जो सर्वज्ञ हैं, विशेषज्ञ हैं उन्होंने वस्तु के स्वरूप को जाना और शब्दों द्वारा उस वस्तुस्वरूप के विज्ञान को एक ग्रंथ में निबद्ध किया। वह ही आगम हैं और उनसे लोग अपनी कल्पना का लाभ उठाते हैं, क्योंकि जो वीतराग सर्वज्ञ की परम्परा में रचित शास्त्र हैं उनमें चूंकि सर्वज्ञता मिल गई है, इसलिए और वीतरागतामूलक हैं, इस कारण कहीं चूक नहीं हो सकती। वे गलत नहीं हो सकते। वही श्रुत है, उसका ज्ञान होना भावश्रुत है, और जो शब्द रचना है वह द्रव्यश्रुत कहलाती है। श्रुत आगम कौनसा प्रमाण है? यह तो एक इस कुंजी से जाना जा सकता है कि जो वस्तु के यथार्थस्वरूप को बताये और वैराग्य को ओर ले जाये, ऐसा आगम प्रमाणभूत है। अब इसकी परीक्षा ज्ञानी जन अपने-अपने ज्ञानबल से कर सकते हैं।

स्पष्ट बात तो यह है कि पदार्थ सब द्रव्यपर्यायात्मक हैं याने वे हैं, सदा रहेंगे और प्रतिसमय उनकी अवस्था बनती रहती है। तो चूंकि वह द्रव्यरूप है इसलिए नित्य है, पर्याय रूप है इस कारण अनित्य है। इसी कारण एक अनेक रूप है। ऐसे ही स्याद्वाद द्वारा वस्तु के स्वरूप को जानकर फल यह लुटना चाहिए कि समग्र वस्तु को जान लें और प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से अत्यन्त पृथक है। सभी वस्तुवें मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं। सबका परिणमन अपने आपके उपादान से है। ऐसे सबसे विविक्त निज आत्मस्वरूप में भावना बनायें, यहीं वैराग्य का मूल है। यह कुञ्जी जहाँ मिले वही वीतराग सर्वज्ञ की परम्परा का कहा हुआ आगम है।

अब यहाँ उक्त मीमांसा के सम्बंध में एक बात और पूछी जा सकती है कि जो यह कहा है शङ्काकार ने कि शब्द की पीछे योजना लगती है वह ज्ञान श्रुत हो जाता है। तो शब्द की योजना कर देने से श्रुत ही होता है या शब्द की योजना से ही श्रुत होता है? क्या मतलब हैं? अगर कहो कि शब्द की योजना से श्रुत ही होता है तो ठीक है। शब्द की योजना करने के पश्चात् जो वाच्य अर्थ का ज्ञान होता वही तो श्रुतज्ञान कहलाता। यदि यह कहो कि शब्द की योजना से ही श्रुत होता है तो इसके मायने यह हुए कि शब्द की योजना से ही श्रुतज्ञान को श्रुत कहा, तब तो कर्ण से जो शब्द सुने जाते, उससे जो ज्ञान होता वह तो मतिज्ञान है, फिर वह न हो पायेगा क्या? शङ्काकार कहता है कि भाई दुनिया में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है कि जो शब्द से बोंधा हुआ न हो। याने शब्द योजना बिना ज्ञान हो जाये, ऐसा कोई ज्ञान नहीं है। जैसे हम किसी चीज को देखते हैं तो कोई न कोई शब्द मन में आते हैं, यह कहना अयोग्य है। इन्द्रिय द्वारा स्पर्श, रस, गंध आदिक का अनुभव होता। वहाँ शब्दयोजना कहाँ चलती है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय का ज्ञान होता, वे क्या शब्दयोजना कर पाते हैं? ज्ञान ज्ञान है। कोई ज्ञान शब्दयोजना से भी होता, कोई ज्ञान शब्दयोजना के बिना भी होता। तो ऐसे ये सभी ज्ञान हैं। शब्दयोजना केवल मति स्मृति बिना बहुत ज्ञान हैं। शब्दयोजना करे कि वह श्रुतज्ञान बना गया। तो यह एकान्त करना कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब योजना सहित होते हैं, अयुक्त बात है। इन्द्रिय मन से बहुत-बहुत ज्ञान होते। सभी शब्द सहित कहाँ होते? स्वयं शङ्काकार मानते हैं कि वाणी तीन तरह की होती है—(१)

बैखिरी, (२), मध्यमा और (३) पश्यन्ती । तो शंकाकर स्वयं जानता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो बैखिरी और मध्यमा वाणी के बिना हो जाता है और आत्मा का स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष भी बैखिरी और मध्यमा वाणी के बिना हो जाता है । हाँ, केवल एक पश्यन्ती वाणी के बिना ज्ञान नहीं मानते, सो यह कहना भी उनका असंगत है, जिसे वे शब्दानुविद्ध कहते हैं उसका अर्थ करना चाहिए सविकल्प । ज्ञान कुछ विशेष निर्णय को लिए हुए ही तो होता है । इन वाणियों का अर्थ कहा है कि बैखिरी वाणी, तो एक मोटे शब्द सुने, जो इन्द्रिय से सुनने में आये वह बैखिरी वाणी है और मध्यमा वाणी का अर्थ कहते हैं अन्तर्जल्प, सो इससे अगर बोध हुआ ज्ञान कहें तो ज्ञान हो तो वाणी जानी जाये और वाणी हो तो ज्ञान जाना जाये, इतरेतराश्रय दोष होगा ।

शङ्काकार कहता है कि शब्द तो ज्योतिस्वरूप है, परम देवता है, सबके अन्तरङ्ग में वह प्रकाश रहा है और उसी वाणी से सबका ज्ञान चल रहा है । उसके बिना न वाणी होती, न ज्ञान होता तो सब कुछ व्यवहार वाणी का बनता, यह सब पश्यन्ती वाणी से होता है । पश्यन्ती एक सूक्ष्म वाणी है । शब्द ज्योति है वह सब कुछ बनता है । ऐसा कहने वाले भी युक्तिसिद्ध बात नहीं कहते । पश्यन्ती वाणी मायने शब्ददेवता, शब्दब्रह्म । जो निरंश है उसे तो बोला ही नहीं जा सकता और उसकी कोई अवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि शब्दब्रह्म की बताओ वे सारी अवस्थायें क्या सत्य हैं? अगर सत्य हैं तो केवल एक निर्विभाग शब्दब्रह्म ही तो न रहा, और अगर कहो कि असत्य हैं तब आगम भी न बन सकेगा । इस कारण भाषावर्गणा के स्कंध में से शब्द निकलते हैं, उनकी उत्पत्ति कंठ तालू आदिक से होती है, उनसे आगम रचना होती है । ज्ञानानुरूप उन शब्दों का संचय होता है, वही श्रुत है, आगम है, वह अनित्य है और उसका ज्ञान करना भी अनित्य है, पर इस अनित्य के प्रयोग के सहारे जीव अपने कल्याण का लाभ पाते हैं ।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुजीवी धर्म है । जब से आत्मा है तब ही से यह स्वरूप है । आत्मा अनादि अनन्त है, यह सहज ज्ञानस्वरूप भी अनादि अनन्त है । प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है । यह आत्मा भी निरन्तर परिणमता रहता है । आत्मा का ज्ञानस्वरूप भी निरन्तर अवस्थाओं रूप में परिणमता रहता है । तो यह ज्ञान किस-किस प्रकार से अपनी अवस्थायें बनाता है? उसका यहाँ प्रकरण चल रहा है, क्योंकि पदार्थों के स्वरूप का अधिगम ज्ञान द्वारा ही होता है अर्थात् ज्ञान की व्यक्तियों द्वारा होता है, तो वे ज्ञानव्यक्तियां अर्थात् ज्ञान की अवस्थायें किस-किस प्रकार की होती हैं? उस प्रकरण में यहाँ यह बताया जा रहा है कि मति श्रुत आदिक ५ ज्ञानों में से दो आदिक के ज्ञान परोक्ष हैं । उनमें मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसी बात जिन्होंने पायी, प्रायः वे छद्मस्थ हैं, उनकी बात कही जा रही है । श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । मतिज्ञान से तो रूप, रस गंध, स्पर्श, शब्द जाने गए हैं और उस मतिज्ञान के बाद जो अर्थान्तर का बोध किया जाता है वह श्रुतज्ञान है । यह श्रुतज्ञान होता तो है ५ प्रकार के इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एवं मानसिक ज्ञान के बाद, किन्तु उनमें शब्दप्रत्यक्ष के बाद जब बहुसा हुआ करता है इस कारण इसका नाम श्रुतज्ञान रखा है, अर्थात् शब्द सुनकर जो अर्थान्तर का बोध होता है वह श्रुतज्ञान है । तो श्रुत शब्द यहाँ उपलक्षण है याने केवल शब्द सुनने के बाद ही श्रुतज्ञान हो, ऐसा नहीं है, पर मुख्यता इसकी अवश्य है । इसी कारण से इसका नाम उपलक्षण करके रखा गया है ।

इसके विरोध में शङ्काकार यह कहता है कि श्रुत तो आगम का नाम है और वह आगम अपौरुषेय है, किसी के द्वारा बनाया नहीं गया। जो उनमें शब्द हैं वे बोले देखे जाते हैं वह शब्द की पर्याय है। शब्दब्रह्म नित्य है, निरंश है, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से अतीत है और अनुमान स्वसम्बेदन आगम सभी से अतीत है। वह तो एक शब्दब्रह्म की पर्याय है। उससे आगम का ज्ञान होता है। ऐसा कहने वाले इस बात को किसी भी तरह सिद्ध नहीं कर सकते। जब इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है? अथवा अनुमान स्वसम्बेदन आगम प्रमाण किसी से भी प्रसिद्ध नहीं होता है तो उसका अस्तित्व समझा जाये? शब्दाद्वैतवादी सभी बातों को अप्रमाण कहते हैं।

केवल एक शब्दब्रह्म ही सत्य है और उस शब्दब्रह्म के जो चार प्रकार हैं—बैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा, इनमें से जो सूक्ष्मा वाणी है अर्थात् शब्दज्योति, वह तो शब्दब्रह्म का स्वरूप है। बाकी तीन अवस्थायें हैं। इस प्रकार कहने वाले शङ्काकार इस तरह से मानें कि जो शब्द हैं वे चार प्रकारों में विभक्त हैं और वे चार प्रकार दो प्रकारों के अन्तर्गत हैं—द्रव्यवचन और भाववचन। द्रव्यवचन के तो दो रूप हैं—बैखिरी और मध्यमा और भाववचन के दो रूप हैं—पश्यन्ती और सूक्ष्मा। द्रव्यवचन कहलाते हैं ये शब्दवर्गणा व्यञ्जना स्वर आदिक जो बोले जाते हैं सो ये चूंकि श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं, इस कारण ये दोनों द्रव्यवचन हैं, और भाववचन कहे जाते हैं ज्ञानरूप। उनमें पश्यन्ती तो विकल्प रूप है। जो कुछ शब्दों की मुद्रा में विचार-विकल्प उठा करते हैं वे विकल्पज्ञान पश्यन्ती वाणी है, और उस वाणी की जो शक्ति है अथवा उस ज्ञान की जो शक्ति है, जो कि आवरण के क्षयोपशम और क्षय से उत्पन्न हुई है वह है सूक्ष्मा। तो यहाँ ये सभी अनित्य हैं और भिन्न-भिन्न है। उन्हीं शब्दों की योजना से यह श्रुत बना हुआ है, इसलिए श्रुत अपौरुषेय नहीं, किन्तु बड़े-बड़े विद्वान् विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा रचे गए हैं, और चूंकि उनमें परम्परा एक सर्वज्ञ वीतराग देव से प्रकट हुई है, इसलिए उसके ही अनुसार की धारा में रचा जाने वाला यह सब आगम समीचीन है। इस सिद्धांत के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कल्पनायें करना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। शब्दब्रह्म की सिद्धि प्रत्यक्ष से तो है नहीं, अनुमान से भी नहीं। जैसे कि क्षणिक सम्बेदन की सिद्धि शब्दाद्वैतवादियों ने स्वसम्बेदन से नहीं मानी, क्योंकि वह निरंश और क्षणिक है। इस प्रकार निरंश नित्य शब्दब्रह्म की सिद्धि भी स्वसम्बेदन से नहीं होती। आगम से भी सिद्ध नहीं, बल्कि यहाँ अन्योन्याश्रय है। जब शब्दब्रह्म की सिद्धि हो तब आगम की सिद्धि मानी जाये। जब आगम की सिद्धि हो तब शब्दब्रह्म का अस्तित्व समझा जाये और फिर शब्दब्रह्म की जो भी पर्याय है वह सब मिथ्या बताई गई है, अविद्यात्मक बताई गई है। तो जो अविद्या स्वरूप आगमादिक हैं वे शब्दब्रह्म का ज्ञान कैसे करा सकेंगे? प्रमाण के बिना अगर किसी पदार्थ को जबरदस्ती सिद्ध किया जाये तो फिर झाग के बबूला भी सिद्ध कर लो। यों अटपट बातें भी सिद्ध कर दी जायेंगी। इसलिए कोई शब्दब्रह्म नित्य है और उसकी पर्याय आगम है ऐसा नहीं है, किन्तु शब्द एक संकेत की चीज है और उन संकेत के शब्दों द्वारा उनकी योजना करके एक भाव ज्ञान को बताया गया है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में वास्तविकता यह है कि इसकी मूल उत्पत्ति वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से हुई है। जो वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा होते हैं वे इस पृथ्वी से ५ हजार धनुष ऊपर रहते हैं। इन्द्रजन वहाँ

समवशरण की रचना करते हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उसे गणधर झेलते हैं, विशिष्ट ज्ञानी साधुसंत उस आगम का गूढ़न करके फिर साधारणजनों में ज्ञानप्रकाश करते हैं, फिर किसी समय कोई वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा हों तो उनके भी वही दिव्यध्वनि प्रकट होती है। उस मूल परम्परा के अनुसार जो भी आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ हैं वे सब आगम हैं। इसी तथ्य को अगर कोई इस तरह से कहे कि सबसे पहले तो इस आगम को स्वर्ग में ब्रह्मा ने पढ़ा था, फिर उसे यहाँ के ऋषियों को दिया गया, फिर वहीं स्वर्ग में चला गया, फिर दोनों जगह चलता आदिक कल्पनायें इसी आधार को लेकर लोग किया करते हैं, पर वास्तविकता यह है कि श्रुतज्ञान पौरुषेय है। मूल परम्परा में तो सकलपरमात्मदेव रचा गया है और परम्परा में आचार्यों द्वारा रचा गया है। तो इसलिए शब्दजन्य यह श्रुतज्ञान है। तो शब्दजन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाला यह श्रुतज्ञान युक्ति, आगम, अनुभव सभी से सिद्ध है और मुख्य बात तो यह है कि जो कोई भी ज्ञानी पुरुष हैं वे युक्तियों से, अनुभव से सब प्रकार से उसे समझ लें। अगर कोई दोष नहीं आता तो वह वस्तुस्वरूप को समझाने वाला श्रुतज्ञान है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

यहाँ शब्दब्रह्मवादी कहते हैं कि शब्दब्रह्म ही एक तत्त्व है और वह तो जल के समान है और उसमें जो अनेक बबूले उठा करते हैं इस तरह ये सब दृश्यमान पर्यायें हैं। सो यह सब छूठा प्रतिभास हो रहा है। यह माया दुस्वार है अर्थात् उसका पार पाना बड़ा कठिन है। ऐसी माया के कारण प्राणियों को भ्रम है कि वस्तुतः तो मूल तत्त्व एक शब्दब्रह्म ही है और उस ही शब्दब्रह्म की ये सब पर्यायें हैं जो दिख रही हैं। उन्हीं पर्यायों में से एक आगम भी है। तो यह सब जो विशेष निर्णय में आता है वह तो अविद्या है और जब अविद्या का कोई अविद्यारूप से ज्ञान कर ले तब विद्या का ज्ञान होता है। तो मिथ्याज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान हो, सबका बीज शब्दब्रह्म है। आगम या श्रुतज्ञान शब्दब्रह्म से अलग कुछ नहीं है।

इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि जो ऐसा ज्ञान कराये कि शब्दब्रह्म भ्रान्तियों का बीज है और भ्रान्तियों के बीच के साथ अविनाभाव बताने से तो यहाँ अनुमान प्रमाण बन गया। और जब अनुमान प्रमाण बने तो हेतु पक्ष दृष्टान्त आदिक सब बनेंगे। इस तरह से यह तो खूब द्वैत हो गया, अद्वैत कहां रहा? और भी अधिक न चलें तो कम से कम इतना तो मान ही लें कि बीजभूत शब्दब्रह्म है और नैमित्तिक यह सब अविद्या है, इससे भी द्वैत सिद्ध हो गया। तब अनादि अनंत एक नित्य व्यापी शब्द परमब्रह्म तो सिद्ध नहीं हो सकता, जिससे कि यह कहा जाये कि शब्दब्रह्म ही घट-पट आदिक पदार्थों के रूप से परिणमता है और श्रुत आगम आदिक रूप से परिणमता है, और भी देखिये—जब तक यह निश्चय न हो कि सम्पूर्ण भेदों को प्रकाश करने वाली प्रतीति भ्रान्तिरूप है तब तक शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती और जब तक शब्दब्रह्म की सिद्धि न हो तब तक भेद प्रतीति भ्रान्तिरूप है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। तो इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष है। किसी तरह शब्दब्रह्म ही नहीं सिद्ध हो सकता। फिर उसको चार अवस्थायें कहना—बैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा आदिक कथन सब असंगत हैं, और स्याद्वादियों के सिद्धान्त से चलें तो ये चार वाणियाँ भी सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि वचन के दो भेद हैं—(१) द्रव्यवचन और (२) भाववचन। तो द्रव्यवचन तो श्रोत्रग्राह्य है और बैखिरी, मध्यमा आदिक श्रोत्रग्राह्य होते हैं तब यह द्रव्यवचन का ही दूसरा नाम रखा गया है। द्रव्यस्वरूप वाणी तो भाषावर्गणा के परिणमन हैं।

सो जैसे बैखिरी में कहते हैं कि कंठ, तालू आदिक का निमित्त पाकर, वायु का संघर्ष पाकर यह बैखिरी प्रकट होती है तो यही तो द्रव्यवचन की बात है। इसी प्रकार मध्यमा वाणी भी बैखिरी से सूक्ष्म है। वह भी किसी रूप से श्रोत्रग्राह्य है, और भाववचन के दो भेद हैं—(१) एक विकल्परूप, (२) शक्ति रूप। तो विकल्परूप तो है पश्यन्ती। सो भाववाणी में संज्ञा पश्यन्ती रखी गई है तो वह ठीक है और शक्तिरूप भाववाणी सूक्ष्मा है। वचनविज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम से जो आत्मा में शक्ति होती है वह शक्तिस्वरूप भाववाणी सूक्ष्मा वाणी है तब तो उसमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि ऐसी शक्तिरूप सूक्ष्मा वाणी के बिना किसी भी जीव के वचन नहीं निकल सकते। याने वचनविज्ञान के आवरण का क्षयोपशम हो वही तो वचन में प्रवृत्ति कर सकता। सर्वज्ञ भगवान के भी जो दिव्यध्वनि खिरती है वह तो सर्व केवलज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न होता है। सो वहाँ भी उस दिव्यध्वनि का कारण आवरण का विच्छेद है। इस तरह चैतन्यस्वरूप सामान्य से बात देखें तो वह सब आत्मा में व्यापने वाली शक्ति है, परन्तु विशेष-विशेष स्वरूप से तो वह सर्वव्यापक नहीं है। प्रत्येक जीव की शक्ति उस ही जीव में व्यापक है। तो ऐसी शब्द की योजना होती है उससे पहले जो ज्ञान होता है वहाँ मतिज्ञान है। सभी ज्ञानों में शब्द की योजना अनिवार्य नहीं है। शब्द की योजना कर देने पर जो ज्ञान बनता है वह श्रुतज्ञान है।

इस प्रसंग में कुछ संक्षिप्त प्रासंगिक विवरण समझना चाहिए कि सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान हैं और सब ज्ञानों में छोटा ज्ञानसूक्ष्म निगोदिया का लब्धपर्याप्तक है, तीन मोड़े वाली गति से जो जन्म चल रहा है उसका प्रथम मोड़े में होता है। तो इस जघन्य ज्ञान में भी अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद है। शक्ति के अंशों की जघन्य वृद्धि को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। तो जो सबसे छोटा ज्ञान है वह भी जघन्य अंतर से अनन्तगुना है। उसे बोलते हैं लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान। यह ज्ञान भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक है। इस सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक के केवल स्पर्शनइन्द्रिय है। उस स्पर्शनइन्द्रिय से उत्पन्न हुए मतिज्ञान के अनन्तर यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है। यह ज्ञान सब निरावरण है? क्योंकि इससे कम ज्ञान होता ही नहीं। अगर इतना भी ज्ञान नष्ट हो जाये तो आत्मा ही न रह सकेगा। तो जैसे पहले कहा गया था कि सभी श्रुतज्ञान शब्दयोजनापूर्वक हों, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु जो सम्यक् श्रुतज्ञान है वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के ही होता है और वह शब्दयोजनासहित होता है। इस कथन में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

तो यहाँ यह समझना कि वह जो शक्तिरूप लब्धि है सूक्ष्मवाणी है यह नाम रखा है और फिर जो पर्यायरूप है, विकल्परूप तो पश्यन्ती वाणी और अक्षर प्रयोग वाली बैखिरी और मध्यमा वाणी है। यहाँ जो श्रुतज्ञान कहा जा रहा, आगम कहा जा रहा वह सम्यग्ज्ञान के प्रकरण का है और वहाँ यह कहना कि शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता, इस लक्षण में कोई विरोध नहीं है। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रिय से भी मतिज्ञान होता है और उससे अर्थान्तर का ज्ञान होता है, वह अवाच्य श्रुत हो या अन्य श्रुत हो, उसमें भी इस तरह निरखें कि भाववाणीरूप चेतना की योजना है। तो सब जगह यह श्रुतपना व्यवस्थित होता है। एकेन्द्रिय आदिक के भी श्रुतज्ञान है, पर वह है कुश्रुतज्ञान। और उनके जो मतिज्ञान हो सकता है तत्पूर्वक है और जिससे वस्तुस्वरूप का अधिगम किया जाना है, जैसा कि इस अध्याय का प्रसंग है वह सब प्रधानतया श्रोत्रजन्य मतिज्ञानपूर्वक

श्रुतज्ञान होता है अथवा न भी सुनो—यदि आगम के अक्षरों को पढ़कर, भीतर अन्तर्जल्प भीतर उसे ही प्रकार के शब्द से उठते हैं जो अव्यक्त हैं, तत्पूर्वक श्रुतज्ञान होता है तो वहाँ भाव शब्दों की योजना है। इस तरह भावशब्द और द्रव्यशब्द इनके अनियोजन से ही श्रुतज्ञान होता है। तब यह बिल्कुल ठीक हो कहा गया है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और जिस मतिज्ञान से पदार्थ का निश्चय होता, श्रुतज्ञान से भी पदार्थ का विशेषरूप से निश्चय होता है। जो मूल ज्ञान ५ कहे गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—इनमें से प्रथम दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान कहलाते हैं, जिसमें मतिज्ञान के पर्यायान्तर है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान और उन सबसे बचा हुआ जो भी ज्ञान है परोक्ष, वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे कि जैसा कुछ दर्शनिक मानते हैं उपमान, तो उपमान भी शब्दयोजनापूर्वक होता है इसलिए श्रुतज्ञान के ही अन्तर्गत है। जैसे जो पुरुष रोज ही रोझ गाय को देखता है और यहाँ किसी ने समझाया, जानकार ने बताया कि गाय के समान रोझ हुआ करता है जो जंगल में पाया जाता है। अब ऐसी शक्ति वाला पुरुष जंगल में कभी पहुंचे और वहाँ रोझ दिखे तो झट उन शब्दों याद हो गई—बताया था कि गाय की तरह रोझ होता है, उन शब्दों की यादपूर्वक जो यहाँ अर्थान्तर का ज्ञान हुआ कि ओह यही है वह रोझ, देखो गाय के सदृश है ना। तो शब्दयोजनापूर्वक जो वहाँ गाय बना वह श्रुतज्ञान है। इस उपमान को नियत प्रमाण से न्यारा प्रमाण नहीं कह सकते। ऐसे तो अनेक प्रमाण हैं जिनके नाम जुदे-जुदे हैं। फिर कितने प्रमाण बनाये जायेंगे? संख्याओं का ज्ञान, रेखाओं का ज्ञान, कुञ्जियों का ज्ञान। कोई वस्तु जितने रुपये में मन भर आये उतने ही आने में ढाई सेर आयेगी आदिक गणित की कुञ्जियां हैं, उनका ज्ञान। गणितों की कुञ्जियां हैं उनका ज्ञान और भी अनेक प्रकार के ज्ञान हैं, उन ज्ञानों का किसमें अन्तर्भाव करेंगे? बात यह है कि शब्दयोजनापूर्वक जितने भी ज्ञान बनते हैं वे सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

यहाँ शङ्काकार कहता है कि जो परोपदेश की अपेक्षा रखे उसे ही तो श्रुतज्ञान कहेंगे, पर गणित का ज्ञान और सभी ज्ञान ये तो उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए वे सब प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। मन से जान लिया—३ और ३ मिलकर ६ होते हैं, अब इसमें श्रुतज्ञान की क्या बात आयी? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि जब तक शब्दयोजना न हुई थी, न पड़ा था, न बताया था तब तक तो यह ज्ञान न चलता था कोई अध्ययन से, मनन से, शब्दयोजना से ये सब ज्ञान चले हैं तो ये सब श्रुतज्ञान में शामिल हैं। श्रुतज्ञान केवल शास्त्रों के ज्ञान का ही नाम है। वह तो जीवों के ज्ञान की पर्याय है शब्दश्रुतज्ञान। जो धर्मसम्बन्धित है वस्तुस्वरूप को बताने वाले शब्द हैं, वे सब शास्त्र हैं, पर उनके अतिरिक्त रोज-रोज सभी जीवों के जो मतिज्ञानपूर्वक अर्थान्तर का ज्ञान होता है वह भी सब श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहाँ सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है? क्योंकि सम्यग्ज्ञान से ही वस्तुस्वरूप का अधिगम होता है। इससे यहाँ सम्यक् श्रुतज्ञान होता है। अथवा शब्दयोजनापूर्वक जो ज्ञान होते हैं उन सबको भी आगम कह लीजिए, पर आगम दो तरह के समझो फिर। एक लौकिक और दूसरा धार्मिक आगम। जैसे किसी पुरुष ने सुना कि जो सिंहासन पर बैठा हो वह तो राजा कहलाता और जो छोटे आसन पर बैठा हो वह मंत्री आदिक है, ऐसा किसी जानकार के मुख से शब्द सुना और ऐसा ही प्रत्यक्ष में देखा तो देखकर जो शब्दयोजना बनी, ऐसा उसने कहा था, ऐसा

सुना था, जैसा उसने कहा था वैसा ही दिख रहा और उनको राजा, मंत्री समझ लेना, यह सब श्रुतज्ञान है। हाँ जब कोई अभ्यस्त पुरुष शब्दयोजना बिना सीधा परिचय करता है निरपेक्ष होकर तो वह मतिज्ञान कहलाता है। तो यह लक्षण यथार्थ है कि शब्दयोजना से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का कुञ्जीरूप स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जहाँ शब्द की अनुयोजना नहीं है वहाँ होने वाले ज्ञान तो मतिज्ञान हैं और जहाँ शब्द की अनुयोजना है, शब्द से, नाम से छुवा हुआ है, वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब तक शब्दयोजना से विद्ध नहीं है, मात्र धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान हुआ वह तो है मतिज्ञान और जहाँ शब्दयोजना सहित है, पूर्व के सम्बंध को प्रतिपक्ष करके शब्दयोजना सहित ज्ञान है, समझाये या समझे, वह अनुमान श्रुतज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार एक अनुमान की ही क्या बात, प्रत्यभिज्ञान आदिक, स्मरण आदिक और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी जब तक नाम से असंस्पृष्ट हैं तब तक मतिज्ञान है। जहाँ शब्द से अनुयोजित हुआ तब जो ज्ञान बना वह श्रुतज्ञान है। इस कुञ्जी के आधार से अन्य लोग उपमान को जो अलग से प्रमाण मानते हैं वह अलग प्रमाण नहीं है। यदि शब्दयोजना रहित है तब तो वह प्रत्यभिज्ञान में शामिल है और शब्दयोजना में विद्ध है तो वह शुद्ध ज्ञान कहलाता है। उपनाम नाम का प्रमाण कोई अलग प्रमाण नहीं है। यदि उपमान को अलग से प्रमाण समझा जाये तब तो बहुत-बहुत ज्ञान हैं, ऐसे जिनको अलग-अलग प्रमाण मानना चाहिए। जैसे सीढ़ी में, नसैनी में, जीने में ऊपर नीचे का ज्ञान है। यह संदूक स्थूल है, यह कपाट महान है आदिक अनेक ज्ञान हैं। सूर्य, मंगल दूर हैं, यह अनाज छोटा है, यह वजनदार है, सूर्झ आदिक हल्की हैं, यह कोठी निकट है, यह लेखनी सीधी है, यह टेढ़ी है आदिक अनेक ज्ञान हैं। उन सबको अलग प्रमाण मानना चाहिए उन्हें जो उपमान प्रमाण को अलग प्रमाण मानने की हठ करते हैं, क्योंकि ये सब ज्ञान प्रत्यक्ष में तो शामिल हैं नहीं। प्रत्यक्ष ने तो जैसे संदूक देखा, जीना देखा, देखा क्या अब, यह बड़ा है, छोटा है आदिक बातें हैं, ऐसा बतलाता नहीं है प्रत्यक्ष। वह जो है सो दिख गया। अब उसमें यह शब्दयोजना लगे और इस तरह की विशेषता जाने तो वह श्रुतज्ञान कहलाता है, पर इसे प्रत्यक्ष भी न कह पायेंगे। और श्रुतज्ञान न मानने की हठ पर शंकाकार है ही तो ऐसे कितने प्रमाण माने जायेंगे? यदि शङ्काकार कहे कि इन सबको श्रुतज्ञान मान लो तो बस ऐसे ही उपमान भी श्रुतज्ञान है।

जैसे किसी अनजान पुरुष को किसी जानकार ने समझाया कि यह जीना है, इसमें अमुक सीढ़ी ऊँची है, अमुक सीढ़ी नीची है। उसने सुन लिया। अब देखा तो न था, अब देखने में आया। पहले जो उपदेश सुना था उसको स्मरण कर अब वहाँ यह कह रहा है, जान रहा है, ओह! जो वह कहा गया था वह ठीक है, यह ऊँचा है, यह नीचा है। तो शब्दयोजना सहित ज्ञान है, इसलिए श्रुतज्ञान कहलाया। संस्थाओं का ज्ञान—२ और २ मिलकर ४ होते हैं या अनेक प्रकार के गणित हैं। प्रत्यक्ष में तो है नहीं, और सांव्यवहारिक मति स्मृति ये भी नहीं, तब समझना चाहिए कि चूंकि ये शब्द योजनासहित हैं, इस कारण ये श्रुतज्ञान कहलाते हैं। यदि शंकाकार यह कहे कि जो संख्या का ज्ञान स्थूलता का, अल्पता का, ऊँचा-नीचापन का ज्ञान हो वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन ज्ञानों में परोपदेश की अपेक्षा नहीं हर्झ। हाँ वहाँ संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध की जानकारी के लिए

परोपदेश की अपेक्षा हुई याने जो किसी ने कहा था कि यह महान् है, यह अल्प है, यह यह ही है । यही तो महान् है । तो यहाँ उस सम्बंध की जानकारी के लिए परोपदेश की अपेक्षा हुई है । वहाँ यह सब ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि फिर यह बताओ कि संज्ञा और संज्ञा, वाले पदार्थों के सम्बंध की जो जानकारी हुई इसे किस ज्ञान में मेल करेंगे? प्रत्यक्ष तो तुम भी नहीं मान रहे । स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी नहीं । तो शंकाकार द्वारा नियत प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिए । प्रत्यक्ष में है नहीं, अनुमान में है नहीं, उपमान में भी नहीं, तब फिर कौनसा प्रमाण है? इसकी अलग प्रमाणता समझनी चाहिए । तो ऐसी तो कोई व्यवस्था ही न कर सकेगा । बात सीधी दो हैं—परोक्षज्ञान जितने हैं उनमें जो शब्द से अछूते हैं, निर्विकल्प हैं, सीधा एक प्रतिभास से सम्बंध रखते, हैं वे तो मति, स्मृति आदिक ज्ञान हैं कोई से भी और यह ही ज्ञान अथवा अन्य अर्थान्तर का ज्ञान जो भी शब्द से स्पष्ट है और शब्दों से अनुयोजित होकर ज्ञान हुए हैं वे सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं । यहाँ छव्वस्थ जीवों को जो ज्ञान हो रहे हैं वे ज्ञान दो किस्म के हैं—एक तो विकल्परहित, शब्दयोजनारहित प्रतिभास मात्र । वह तो मतिज्ञान कहलाता है । दूसरा शब्दयोजनापूर्वक जो विशिष्ट ज्ञान है वह श्रुतज्ञान कहलाता है । इसका उल्लंघन करके अन्य प्रकार से प्रमाण को मानने की व्यवस्था नहीं बनती । उपमान प्रमाण भी यदि नाम से अनुयोजित नहीं है, संज्ञा संज्ञी के सम्बंध की प्रतिपत्तिपूर्वक नहीं है, अथवा परोपदेश की अपेक्षा रखने वाला नहीं है । तो वह सावश्य प्रत्यभिज्ञान बनेगा और यदि परोपदेश की अपेक्षा है, शब्द से अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान कहलायेगा ।

यहाँ शंकाकार कहता है कि जो यथार्थ वक्ता के उपदेश से शिष्य को संज्ञा और संज्ञी के सम्बंध में जानकारी हुई है तो वह आगमज्ञान का फल ही है, इस कारण वह अलग प्रमाण कुछ नहीं है। वह तो प्रमाण का फल है। प्रमाण तो वह कहलायेगा जो प्रमिति क्रिया का साधक हो। फलों में क्या ढूँढ़ना? प्रमाण के फलस्वरूप तो अनेक जानकारियां हैं। स्वयं तो सिद्धान्त कहता है कि प्रमाण का फल है अज्ञान निवृत्ति, त्याग, ग्रहण, उपेक्षा, इसे फल माना है, प्रमाण तो नहीं माना। तो जो फलस्वरूप है उसमें कौनसा प्रमाण है ऐसा तर्क न उठाना चाहिए? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इस तरह से उपदेश में आये उपमान वाक्य से ही तो सदृशता का ज्ञान हुआ कि ओह जिसको कहा था कि रोझ होता है जंगल में और गाय के सदृश होता है। अब जंगल में देखा और उन शब्दों का ख्याल किया और उन उपदेशों के आधार पर यह रोझ है, कितना है, ऐसी जानकारी की, तो इसे आगम प्रमाण कह लीजिए और आगम ही श्रुत है। तो श्रुत से अलग उपमान प्रमाण तो न रहा और जो यह कहा था कि प्रमाण के फल में प्रमाणपने की खोज नहीं हुआ करती। तो उसका यह सीधा उत्तर है कि फल प्रमाण से भिन्न है, कोई अलग चीज नहीं है। प्रमाण का फल प्रमाणस्वरूप ही है। इस तरह उपमान शब्द से अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान ही कहलायेगा।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि उपमान में यथा समान तुल्यादिक शब्दों से सूचित होता है उपमान, उपमेय भेद, उस भेदों को बताने में तत्पर है यह उपमान प्रमाण? । यदि ऐसा उपमान वाक्य से उत्पन्न हो, उपमान

प्रमाण तो श्रुत से अलग है, और जब उपमान प्रमाण द्वारा कोई बात सुनते हैं, समझते हैं कि इसका मुख चन्द्र की तरह है या अन्य कुछ तो एक अतिशय सहित चमत्कारी ज्ञान पैदा होता है। सुनने वाले के चित्त में भी कोई एक तरङ्ग उठती है तो ऐसा उपमान भी श्रुत से अलग प्रमाण है।

इस शंका का समाधान यह है कि इस तरह अगर द्रव यथा आदिक मानने के कारण उपमान अलग प्रमाण हो जाये तो फिर रूपक अलंकार से पहले सहोक्ति अलंकार आदिक अनेक ऐसे उपदेश हैं, वचन हैं कि जिनमें रूप-रूपक भाव को समझने में समर्थ है वह शब्द और बल्कि उपमान वाक्य से भी बहुत ही ऊँचे अलंकार और भाव में है यह वाक्य में उत्पन्न होने वाला ज्ञान, ऐसे १० ज्ञान अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे। ज्ञान सो वह है ही, और उनसे भी कोई विशिष्ट बोध होता है, तरंग उठती है, सुनने वालों को हर्षादिक उत्पन्न करते हैं, विसम्बाद भी नहीं, सो अप्रमाण भी नहीं। तब तो रूपक आदिक अनेक अलंकार प्रमाण बन बैठेंगे। अगर शंकाकार ऐसा समाधान करे कि रूपक, उपमा आदिक अलंकार तो श्रुतज्ञान हैं, क्योंकि उपदेश का मूल कारण पाकर ये अलंकार बने हैं। तो यही समाधान उपमान के लिए भी होना चाहिए। उपमान भी तो प्रयोजनमूलक है, इस कारण उपमान अलग प्रमाण नहीं। यदि वह शब्दयोजना से रहित है तो मतिज्ञान है और शब्द से अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान है।

अब कोई यह जिज्ञासा करे कि प्रतिभा कौनसा प्रमाण होता है? तो प्रतिभा ऐसी बुद्धि को कहते हैं कि जो सत्य होने वाली बातों को शीघ्रता से समझ लेती है। जैसे अमुक चीज मंदी हो जायेगी, अमुक तेज हो जायेगी। सभाचतुर विद्वान् तो समयोचित ऐसे तत्त्व की बात कह डालते हैं कि सुनने वाले बड़े प्रभावित होते हैं। कहते हैं ना कि इसकी प्रतिभा बहुत अच्छी है, तो वह प्रतिभा कौनसा प्रमाण है? ऐसी कोई जिज्ञासा रखे तो उसका यह ही समाधान है कि प्रतिभा ऐसे ही ज्ञान का तो नाम है जो देश, काल, प्रमाण अनुसार उत्तर की जल्दी जानकारी बन जाये। तो ऐसी जानकारी प्रतिभा शब्दयोजना सहित है, अतएव श्रुतज्ञान है। हाँ उसका अभ्यास हो और फिर अनेकों ही प्रतिभायें बन जाती हैं तो वह मतिज्ञान है। शब्दयोजना लग जाने पर अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान होना वह श्रुत कहलाने लगता है, ऐसे ही जितना भी मतिज्ञान की पर्यायों में बताया है, सभी के सभी शब्दयोजना होनेपर श्रुतज्ञान है, और शब्द विकल्परहित सम्भव प्रमाण मात्र प्रतिभास हो तो वह मतिज्ञान है। ऐसे अनेक सम्भव प्रमाण हैं। जैसे कोई सुने कि यह अष्टसहस्री का विद्वान् है तो इतना सुनते ही समझ जायेगा कि फिर तो इसको देवागम स्तोत्र का बहुत ऊँचा ज्ञान है। किसी ने कहा चार बज गए तो वह तुरन्त समझता है कि ओह! तीन तो बहुत देर के बज चुके, आदिक ज्ञानों का नाम संभव प्रमाण कहलाता है। तो उपमान को अलग प्रमाण मानने का आग्रह करने वाले तो सम्भव आदिक और भी प्रमाण मान बैठेंगे, मानने पड़ेंगे। एक अभाव प्रमाण है कि जिस वस्तु के जानने की इच्छा है उसका प्रतियोगी तो मिल जाये। उस वस्तु रहित प्रतियोगी का दर्शन होना वह अभाव प्रमाण कहलाता। तो ऐसे अनेक प्रकार के अभाव और अर्थापत्तियां, ऐसा है तो ऐसा हो गया तो ये सारे प्रमाण चूंकि परोपदेशापेक्ष है, शब्दयोजना सहित हैं, संज्ञा संज्ञी के सम्बंध की जानकारी रखकर होते हैं, इस कारण ये सभी ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

सारांश यह हुआ कि नाम शब्द संसर्ग रहित जो ज्ञान है वह तो है मतिज्ञान और नाम शब्द सम्बन्ध प्रतिपत्ति

सहित परोपदेशापेक्ष जो ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान एक सामान्यतया हुआ और एक सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में सम्यक् श्रुतज्ञान की बात हुई। तो इस प्रसंग में सम्यक् श्रुतज्ञान की बात चल रही है, क्योंकि वस्तु के स्वरूप के अधिगम का उपाय क्या है, इसके उत्तर में इस अध्याय में ज्ञान का विवरण चल रहा है।

तो ऐसा यह श्रुतज्ञान जो पदार्थों के स्वरूप का खूब विवरण करते हैं वे मूल में दो प्रकार के हैं— अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्ट के १२ अंग हैं और उनमें भिन्न-भिन्न विषयों का बहुत विशाल वर्णन है। जैसे आचारांग में मुनियों के आचरण का बहुत विस्तृत वर्णन है। तो ऐसे भिन्न-भिन्न विषय वाले ये अंग हैं और उनके अतिरिक्त जो कुछ विचित्रता है वह अंगबाह्य है, जिसमें स्फुट विषयों का वर्णन है। जैसे सामायिक की समस्त बातें, तीर्थकरों की स्मृति के सब तथ्य, वंदना, प्रतिक्रमण आदिक की सब विधियों अंगबाह्य में वर्णित हैं। इस प्रकार यह भी श्रुतज्ञान है कि जिसके आधार पर ज्ञान का विकास होता है। यह श्रुतज्ञान केवलज्ञान का बीज है और तब ही यह बतलाया है कि श्रुतज्ञान में और केवलज्ञान में विषय बहुत विशाल है, समान है, पर अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

इस सूत्र में जो यह कहा है कि “श्रुतंमतिपूर्व ।” तो उसका भाव है कि श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयति इति श्रुतपूर्व याने श्रुत के प्रमाणपने को जो पूर दे उसे श्रुतपूर्व कहते हैं। तो श्रुत से प्रमाणपने को पूरने वाला कौन है? पहले हुआ निमित्तभूत कारण, वह है मतिज्ञान याने मतिपूर्वक मतिज्ञान के कारण करके उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यहाँ यह शंका न करनी कि लोक में कारण के समान कार्य देखा जाता है, जैसे गेहूं से गेहूं उत्पन्न होता है तो मति से जो होगा वह मति ही कहलायेगा। श्रुतज्ञान कैसे हो सकता? गेहूं पूर्वक गेहूं होता है इसी प्रकार मतिपूर्वक मति ही तो होगा। जो होगा वह मति स्वरूप ही तो बनेगा, तब श्रुत नहीं कहला सकता।

समाधान यह है कि ऐसा एकान्त नहीं है कि जितने भी कार्य होते हैं वे कारण के ही समान होते हैं। देखो दंड चक्र आदिक कारण पूर्वक घड़ा बनता है, पर घड़ा दंडरूप तो नहीं हो जाता, और फिर स्पष्ट बात यह है कि मतिज्ञान होनेपर भी और बाह्य श्रुतज्ञान का निमित्त सन्निधान होने पर भी जिसके श्रुतज्ञानावरण का प्रबल उदय है उसके श्रुतज्ञान नहीं सम्भव हो सकता। और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम बने विशेष तो श्रुतज्ञान होता है। तो कारण तो वास्तविक श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है, पर उसकी उत्पत्ति मतिज्ञानपूर्वक होती है। इस तरह से मतिज्ञान निमित्तमात्र समझना।

यहाँ यह भी शंका न रखनी कि श्रुत तो अनादि निधन माना गया है। जैसे लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि अनंत हैं, किसी ने रचे ही नहीं। तो जब श्रुत अनादि अनन्त है, तो उसे मतिपूर्वक कैसे कहा जा सकता? और अगर मतिपूर्वक कहेंगे तो अनादि निधन न रहा। उसकी आदि तो हो गई। उससे पहले मतिज्ञान था तो श्रुतज्ञान की आदि हो गई और जब श्रुत की आदि हो गई तो उसका अन्त भी होगा, क्योंकि जिसकी आदि है उसका अन्त भी होता है, और जब आदि अन्त हो गए श्रुत में तो वह पुरुषकृत हो गया याने पुरुषों ने बनाया। तो जो पुरुष बनाये, प्राणी बनाये वह तो अप्रमाण है, यह शङ्का यों ठीक नहीं है कि यहाँ स्याद्वाद से उसका अर्थ लगाना चाहिए। द्रव्यदृष्टि से याने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामान्यरूप से विवक्षित किए जायें

तो कहा जायेगा कि श्रुत अनादिनिधन है अर्थात् श्रुतज्ञान में जो बात बतायी जाती है, जिसका उत्थान दिव्यध्वनि से चलता है वह श्रुतज्ञान कोई नया गढ़ा गया हो याने था ही नहीं, ऐसा है ही नहीं और कल्पना से किया गया हो ऐसा तो नहीं होता। अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं और भी अनन्त अरहंत हो गए हैं परम्परा से, ठीक ऐसे ही वस्तुस्वरूप के अनुरूप ज्ञान चल रहा है, श्रुत चला आ रहा है। किसी भी पुरुष ने कहीं भी, किसी भी समय किसी तरह उसे गढ़ा हो नया अपनी बुद्धि से, सो बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञदेव की जो दिव्यध्वनि होती है वह तो इच्छारहित है। वहाँ तो प्रकृत्या एक ध्वनि खिरती है और अन्य लोग जो आगम, शास्त्र, पुराण रचना करते हैं सो उस मूल उपदेश के अनुसार करते हैं। तो वह जो श्रुत परम्परा है वह अनादि अनन्त है। उस ही का विशेष की अपेक्षा से आदि अन्त सम्भव है। जिस पुरुष ने उन शब्दों को सुनकर आगम को जान कर ज्ञान किया उसकी आदि है और अन्त भी है, क्योंकि श्रुतज्ञान तो ज्ञानस्वरूप की पर्याय है। पर्याय अनादि अनन्त नहीं हुआ करती। सामान्यपर्याय, उत्तरपर्यायों का निरन्तर होते रहना यह तो है अनादि अनन्त, पर कोई विशिष्ट पर्याय अपने क्षण में है, अगले क्षण नहीं, तो इस दृष्टि से आदि अन्त भी है। यों श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक सिद्ध होता है।

जैसे वृक्ष में अंकुर उत्पन्न होते हैं तो बीजपूर्वक होते हैं पर संतान की अपेक्षा से देखा जाये तो अनादि अनन्त है। यह बीज पहले वृक्ष से था, वह वृक्ष पहले बीज से था, वह बीज वृक्ष से था। एक परम्परा है, अनादि है। अगर व्यक्तिगत बीज हो या व्यक्तिगत वृक्ष हो कि अमुक वृक्ष, अमुक बीज, उसकी तो आदि है, इस तरह श्रुत द्रव्यार्थिक से तो अनादि निधन है और पर्यायदृष्टि से सादि सान्त है, तब श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहना यह अयुक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि लोग आगम को, वेद को अपौरुषेय इस ख्याल से सिद्ध करना चाहते हैं कि यह आगम पूरा प्रमाणभूत कहलाये। देखो यह आगम, यह शास्त्र यह वेद किसी ने नहीं बनाया। और है तो इसका अक्षर-अक्षर प्रमाण। कोई बनाये तो वह बनाया हुआ है, यह बनाया हुआ नहीं है। तो यों अपौरुषेय कहकर ख्याल तो यह जमायें कि इस तरह शास्त्र आगम पूरे प्रमाण हो जायेंगे। लेकिन दो बातें ध्यान में न रखी। पहली बात तो यह है कि जो-जो चीज अपौरुषेय है वह क्या प्रमाणभूत है? ऐसा तो नियम नहीं है। देखो जीवों का उपदेश, इसका कोई कर्ता स्मरण में तो नहीं आता कि किसने चोरी के उपदेश की रचना की या पाप का उपदेश यह किसने प्रारम्भ किया था ही नहीं और किसी ने कल्पना से एक तरकीब बनायी हो, लिखा हो, ऐसा कोई कर्ता नहीं है। चले आ रहे हैं अनादि से तो क्या चोरी का उपदेश यह प्रमाणभूत हो जायेगा? मिथ्यात्व मोह ये अनादि से चले आ रहे तो क्या ये प्रमाणभूत हो जायेंगे? न तो अपौरुषेयता ध्यान का कारण है और न अनादि से चली आयी हुई बात वह प्रमाण का कारण है। प्रमाण का कारण तो जो युक्तिसिद्ध हो, दोषरहित हो, जीव के हितरूप हो वह सब प्रमाणभूत होता है। प्रत्यक्ष आदिक भी तो अनित्य ज्ञान हैं। अगर अनित्यता होने से प्रमाणपना न रहे तो शंकाकार के माने हुए अन्य सब ज्ञान अप्रमाण ही बैठेंगे। इसलिए अपौरुषेयता का दिमाग प्रमाणता की सिद्धि के लिए नहीं बनता, किन्तु वह कथन सही है, परस्पर विरुद्ध नहीं है, वस्तु के स्वरूप के अनुकूल है। ये बातें निरखनी चाहिएँ। अगर युक्ति आगम से विरोध न पड़े तो वह प्रमाणभूत है, और भला जहाँ कुछ वाक्य बनाये गए अग्नि की पूजा करो इससे स्वर्ग

मिलेगा, आदिक जो कुछ भी बनाये गए हैं, वाक्य रचे गए हैं यह तो एक रचना है, वह बिना की हुई कैसे हो सकती है? बात यह दृढ़ना चाहिए कि मूल कर्ता सर्वज्ञ हुआ, निर्दोष आत्मा हुआ। जो निर्दोष है, सर्वज्ञ आत्मा है उसका मूल से जो उपदेश चला वह प्रमाणभूत है।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखो किसी जीव को प्रथम-प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा तो यह बताया जाता ना कि सम्यग्दर्शन से पहले जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान कहलाता है। जब सम्यग्दर्शन होता है तब वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो अब जब प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान—ये दोनों समीचीन बन गए, तुरन्त ही बन गए। क्या उनमें ऐसा होता कि सम्यग्दर्शन हो तो पहले मतिज्ञान सम्यक् बने, बाद में श्रुतज्ञान सम्यक् बने। जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान थे वही सम्यक्त्व होते ही समीचीन हो जाते हैं। तो जब दोनों ज्ञान एक, साथ सम्यक् बने तो उसमें यह कैसे कहा जा सकेगा कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है?

इस शंका का समाधान यह है कि उत्पत्ति तो मति और श्रुत के क्रम से होती है, मगर उनमें समीचीनता वह सम्यक्त्व की कारण होती है। तो सम्यक्त्व की अपेक्षा तो समीचीनता के लिए है, पर उनका स्वरूपलाभ तो क्रम से ही होता है। पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है, इस कथन में कोई दोष नहीं है और भले ही अनेक श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक भी होते हैं, पर जिस श्रुतज्ञान के बाद हुआ है श्रुतज्ञान वह श्रुतज्ञान तो मतिपूर्वक था। चाहे एक दो श्रुतज्ञानों का भी अन्तर पड़ जाये, मगर जिस धारा में श्रुतज्ञान है उसके प्रथम श्रुतज्ञान तो मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ था। जैसे किसी ने शब्द सुना, शब्द क्या चीज है? भाषावर्गणा के पुद्गल स्कंधों में शब्दपर्याय बनती है। तो उस शब्दपर्याय से वर्ण, पद, वाक्य यह समझा या अन्य इन्द्रिय से कुछ देखा, जाना, उससे तो पहले श्रुतज्ञान हुआ। अब उस श्रुतज्ञान के बाद कुछ और अभ्यास से, समागमों से और और बातें भी सोचता है, करता है। घट, वह शब्द सुना तो जब तक घट यह शब्द का मात्र का ज्ञान है, मतिज्ञान है, ओह! इसका यह अर्थ है, यह घड़ा यह श्रुतज्ञान हो गया और इस घड़े से पानी भरा जायेगा, चलो पानी भर ले आयें, ये भी श्रुतज्ञान होते जा रहे हैं, अर्थात् इस तरह श्रुतपूर्वक भी श्रुत है, मगर सर्वप्रथम मति हुआ, उसके बाद श्रुतधारा चली, इस कारण यह दोष नहीं आता कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक नहीं होता। यहाँ सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है और श्रुत आगम की बात कहीं जा रही तो इस श्रुत के मूल वक्ता सर्वज्ञ तीर्थकर या अन्य परमात्मा थे। उसके बाद श्रुतकेवली अन्य आचार्यजन हुए। तो उन सर्वज्ञ परमर्षिकी परम्परा से उनके उपदेश के अनुसार जो हो उसे आगम कहा है। तो आगम प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्टि के मूल से चला है, निर्दोष आत्मा के मूल से चला है। अब उसे अनेक शिष्य जन जिनमें बुद्धि अधिक है गणधर आदिक, उन्होंने ग्रन्थरचना की। सो मूल में जो रचना हुई वह अंग पूर्वादिक रूप है। फिर जब इतनी भी समझ न रही, ज्ञानहीन होता गया, लेकिन बुद्धि निर्दोष रही तब फिर छोटी आयु वालों के अनुग्रह के लिए अल्प मति बल वाले शिष्यों के उपकार के लिए फिर ग्रन्थरचना चली। इस तरह परंपरा से चला आया हुआ वही ज्ञान। जैसे कोई इस तरह कुवें से एक घड़ा पानी भर लाया, अब उस घड़े में से एक लोटे में निकाला, फिर लोटे से कटोरी में लेकर पीने लगे। तो है तो उसी कुवां का जल। कोई कहे कि कटोरी का जल है, लोटे का जल है, अरे मूल तो वही है। इसी तरह कोई भी आचार्य ऋषि जन कुछ ग्रन्थरचना करें, आखिर भाव तो वही है और उसी मूल आगम के अनुसार ही

बात कही जा रही है। इस तरह वस्तुस्वरूप का आगम करने के लिए और समीचीन निर्णय कराने के लिए यह श्रुतज्ञान समर्थ है। उस श्रुतज्ञान का इस सूत्र में विवरण किया गया है।

सूत्र में जिस श्रुत का वर्णन किया गया है वह श्रुत दो प्रकार का है—(१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। तो ये दोनों ही श्रुत एक सम्यक्पने में सम्बंध रखते हैं, जिनमें द्रव्यश्रुत तो है, ऐसे ग्रन्थों की रचना जो बड़े-बड़े अतिशयों वाले ऋद्धि वाले मुनिराजों के द्वारा स्मरण की गई है, रची गई है, वे दो प्रकार के हैं—(१) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। भगवान् अरहंत सर्वज्ञरूपी हिमालय से निकली जो वचन गंगा है उसके सुनकर जिसका अंतःकरण विशुद्ध हो गया है याने दिव्यध्वनि का जो अर्थ समझा उस जले के द्वारा जिसका हृदय पवित्र हो गया है ऐसे बड़े-बड़े ऋद्धिधारी गणधरों के द्वारा जो ग्रन्थ रचना हैं वह है आगम। सो वह १२ प्रकार के अंगों में रचा हुआ है। जैसे प्रथम अंग का नाम है आचारांग। इस आचारांग में चर्या का विधान बताया गया है। ८ प्रकार की शुद्धियां, ५ प्रकार की समितियां और गुप्ति आदिक के भेद, सब इस आचाराङ्ग सूत्र में विस्तार सहित कहा गया है। यह आचाराङ्ग साधु संत जनों के लिए एक मार्गदर्शन करने वाला है। किस तरह रहना, कैसे चलना समय किस तरफ लगाना, इन सब बातों का आचाराङ्ग में वर्णन है। दूसरा अङ्ग है सुत्रकृताङ्ग। इसमें ज्ञानविषयक बातों का, विनय आदिक व्यवहारों का सब प्रज्ञापन किया गया है। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, व्रत में कैसे बढ़ना चाहिए? व्रत में कोई भंग हो जाये तो कैसे उठना चाहिए? इन समस्त व्यवहार धर्मों की क्रियाओं का इस अङ्ग में वर्णन है। तीसरा अंग है स्थानाङ्ग। इसमें पदार्थों के भेद स्थानों के सहारे किए गए हैं। जैसे जीव कितनी तरह के, पुदगल कितनी तरह के, ऐसे अनेक वर्णन हैं। समवायाङ्ग में समान चीजों का अलग-अलग समवाय किया गया है। जैसे द्रव्य समवाय, धर्मद्रव्य, अर्धमद्रव्य, लोकाकाश एक जीव, इनके समान प्रदेश हैं, पाने असंख्यात प्रदेश हैं। तो जो समान द्रव्य हैं उनका वर्णन है। क्षेत्रसमवाय भी किया। जैसे जम्बूद्वीप सवार्थसिद्धि, सप्तम् नरक का बीच का बिल नन्दीश्वर द्वीप की एक बावड़ी, ये सब एक समान विस्तार वाले हैं, मायने एक लाख योजन के विस्तार वाले हैं। ऐसा क्षेत्रों की समानता की दृष्टि से वर्णन है, ऐसे अनेक वर्णन हैं, क्षेत्रसमवाय हैं। कालसमवाय में समयों की समानता का वर्णन है। जैसे, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ये बराबर १० कोड़ाकोड़ी सागर के हैं। भाव समवाय में भी अनेक वर्णन हैं। जैसे क्षायक सम्यक्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंख्यात चारित्र, ये जो परिणाम हैं ये अनन्त हैं अर्थात् अविभागप्रतिच्छेद की अपेक्षा ये अनन्त परमाणु वाले हैं। इस तरह समवायाङ्ग में कई विधियों से समान-समान पदार्थों का वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञसि अङ्ग में ६० हजार चर्चाओं द्वारा अनेक प्रश्नोत्तर हैं। जैसे जीव है अथवा नहीं है, नित्य है आदिक अनेक चर्चाओं का वर्णन है।

ज्ञातृधर्मकाङ्ग में जो बड़े महापुरुष ज्ञाता हुए हैं धर्मात्मा जन, उनके आख्यान अव्याख्यानों का कथन है। उपासकाध्ययन में श्रावकों के आचार, व्रत आदिक का वर्णन है। अंतःकृतदशांग में उन-उन १०-१० महान् आत्माओं का वर्णन है जो एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में हुए और बड़े परीषहों को सहकर, कठिन उपसर्गों को जीतकर, समस्त कर्मों का क्षय करके हुए हैं औपपादिक दशाङ्ग में ऐसे-ऐसे महामुनियों का वर्णन है जो प्रत्येक

तीर्थकरों के समय में बड़े-बड़े उपसर्गों को जीतकर समाधिमरण करके ५ अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वारिसिद्धि, इन ५ उत्तम साधनों में उत्पन्न हुए हैं। प्रश्नव्यक्तरणाङ्ग में हेतु, नय आदिक के सहारे या आक्षेप आदिकपूर्वक प्रश्नों का संग्रह है, जिसमें लौकिक धार्मिक सभी पदार्थों का निर्णय किया गया है। विपाकसूत्रांग में कर्मों के पुण्य-पाप के फल का चिन्तवन किया गया है, और १२वां जो दृष्टिवादाङ्ग है उसमें अनेक दृष्टियों का वर्णन है जैसे १८० क्रियावादी लोग होते हैं उनके मतों का ३ वर्णन है। ८४ प्रकार के अक्रियावाद दृष्टि वाले हैं, उनका वर्णन है। ६७ प्रकार के अज्ञानदृष्टि वाले मत हैं, उनका वर्णन है। ३२ प्रकार में वैनशक दृष्टि वाले मत हैं उनका वर्णन है, ऐसे ३६३ प्रकार के जो कुमत हैं उनका वर्णन है तथा इसके अतिरिक्त ५ अकार के इसी दृष्टिवाद के अंग हैं, भेद हैं। परिकर्मसूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगतचूलिका, पूर्व १४ प्रकार के होते हैं—पहला उत्पाद पूर्व, जिसमें यह वर्णन है कि पुद्गल जीव काल आदिक का जब-जब जहां जिस प्रकार पर्याय से उत्पाद हुआ करता है उस सबका वर्णन। दूसरा है अग्रायणीपूर्व—जो क्रियावाद आदिक की प्रक्रियायें हैं, क्रियाकांड हैं वे सब अग्रायणी कहलाते हैं। उनका विशेषतया इस पूर्व में वर्णन है। तीसरा पूर्व है वीर्यप्रधान—इसमें शक्तियों का वर्णन है, छद्मस्थों का, केवली का, देवेन्द्रों का, नरेन्द्रों का, चक्रवर्ती बलदेव आदिक की शक्तियों का वर्णन है, और सम्यक्त का भी उसी में लक्षण है, जिससे आत्मशक्ति का भी वर्णन चलता है। चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद है, जिसमें ५ अस्तिकायों का वर्णन है। नयों का अनेक पर्याय अंगों के रूप से वर्णन है। अस्तिनास्ति और भी अनेक अंगों से जहाँ पदार्थों का वर्णन किया हो, वह अस्तिनास्तिप्रवाद है। छहों द्रव्यों का भाव और अभाव की विधि से दोनों नयों की विवक्षा से वहाँ निरूपम होता है वह अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व है। ५वां ज्ञान प्रवाद पूर्व है। पाँचों प्रकार के ज्ञानों का कैसे उत्पाद होता, क्या विषय है? ज्ञानी और अज्ञानी जीवों की इन्द्रियों का कैसा उपयोग है, इन सब बातों के समाधान जिसमें विवेचना है वह ज्ञान प्रवाद पूर्व है। छठा सत्यप्रवादपूर्व है। इसमें सत्य का निरूपण है अर्थात् सत्य वचन कितने प्रकार के होते हैं। उनमें किस किसका परिहार है? १२ प्रकार की भाषायें हैं, १० प्रकार के सत्य हैं इन सबका जहाँ वर्णन है वह सत्यप्रवाद है। वचन निकलने के साधन कौन से हैं? वे ही संस्कार के कारण कहलाते हैं। जैसे सिर, कंठ, तालू, ओंठ, मूर्धा आदिक ये ८ साधन होते हैं उनका भी वर्णन है सत्यप्रवादपूर्व में। वचनों का प्रयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार से होता है। सो यह भाषा १२ प्रकार की है। इसमें भली और बुरी सभी आती हैं।

जैसे एक आव्याख्यान भाषा है याने हिंसा आदिक क्रियाओं को करने वाले विरक्त अथवा देशसंयमी में यह इसका कर्ता है—इस प्रकार को जो बोल-चाल वह आव्याख्यान है। कोई कलह करने की भाषा कोई चुगली करने की भाषा, पीठ पीछे दूसरे के दोष को बखानना, यह वैशून्य भाषा है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। इससे संबंध रखने वाली वाणी सम्बद्ध वाणी कहलाती है और इससे हटकर जो भी बोलता है वह असम्बद्धप्रलाप कहलाता है। प्रीति उत्पन्न कराये, ऐसी वाणी को इतिवचन बोलते हैं और उन्हीं शब्दादिक विषयों को अरति उत्पन्न-कराये वह, अरतिवाणी है। जिन वचनों को सुनकर परिग्रह की कामनायें, रक्षा आदिक में आसक्ति बने वह उपाधि वचन है। वाणिज्य व्यवहार में जिसको निश्चय करे, कुछ माया की ओर आत्मा

झुके वह विकृति वाणी है। जिसको सुनकर तप ज्ञान में अधिक पुरुषों के प्रति भी प्रणाम करने की बुद्धि न जगे, न प्रमाण करे वह अप्रणति वचन है। जिसको सुनकर चोरी में दृष्टि जाये वह स्तेय वचन है। जिसको सुनकर समीचीन मार्ग में बुद्धि जाये वह सम्यग्दर्शन वचन है और अमार्ग में दृष्टि जाये जिस वचन को सुनकर वह मिथ्यादर्शन वचन है। ऐसी १२ प्रकार की भाषायें होती हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन सत्यप्रवाद पूर्व में है। इसी तरह वक्ता भी अनेक हुआ करते हैं। किसी के बोलने की स्थिति प्रकट हुई है, किसी के नहीं हुई है, ऐसे अनेक लोग हैं, असंज्ञी जीव हैं, संज्ञी जीव हैं। दोइन्द्रिय से पहले तो वकृत्व शक्ति होती ही नहीं। वहां भाषा नहीं निकलती। तो जिन जीवों के भाषा सम्भव है उन जीवों की विशेषतायें भी कही हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के असत्य वचन होते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्व में है, और १० प्रकार के सत्यवचन हुआ करते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्व में है। जैसे नामसत्य, व्यवहार रखने के लिए नाम रख दिया वह नामसत्य है। जैसे किसी का नाम इन्द्र रख दिया तो इन्द्र तो नहीं है, पर नाम की दृष्टि से इन्द्र ही है, उसी नाम को कहकर लोग बोलते हैं, यह नाम सत्य है। कोई रूपसत्य होता है। जैसे पदार्थ तो नहीं है, फिर भी केवल रूप मात्र से ही कहा जाता है। जैसे फोटो है सामने किसी के तो वह आदमी नहीं है, वह जीव नहीं है, वहाँ तो केवल कागज है, स्याही है, पर रूप को देखकर यह बता देना कि यह अमुक आदमी है यह रूपसत्य है। एक स्थापनासत्य होता है। पदार्थ तो नहीं है पर किसी प्रयोजन के लिए उसमें स्थापना कर दे वह स्थापनासत्य है। जैसे धर्मसाधना के लिए प्रभु की मूर्ति की स्थापना की, वह स्थापनासत्य है। दिल बहलाने के लिए काठ पत्थर की बाटों में यह बजीर है, राजा बजीर है, राजा है आदिक मान लेना स्थापनासत्य है। कोई वचन प्रतीति सिद्ध होते हैं, याने जो भावों का विश्वास कर, प्रतीति कर जो वचन बोले जाते हैं वह प्रतीतसत्य है। कोई सम्बृतसत्य होता है। जैसे लोक में जो कल्पनायें करके लगाये गए वचन हों, जैसे कमल को पंकज कहते, जिसका अर्थ होता है कीचड़ से उत्पन्न हुआ। तो क्या कमल केवल कीचड़ से उत्पन्न हो जाता? पृथ्वी कारण है, बीज कारण है, पानी कारण है, फिर भी लोक में ऐसी ही प्रसिद्धि है, कल्पना है उससे यह नाम बोला जाता है। कोई संयोजनासत्य होता है। याने चेतन अचेतन पदार्थों का उस-उस ढंग से रखकर फिर उस आकार में कोई एक बात मान ली, वह संयोजनासत्य है।

जैसे चक्रव्यूह अन्य व्यूह आदिक मान लेते हैं या धूप चूर्ण आदिक में कहते कि जो यह अमुक का चूर्ण है यह पाचन चूर्ण है, यह सब संयोजनासत्य है। कोई जनपदसत्य होता याने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति करा देने वाला जो वचन है वह जनपदसत्य होता। कोई देशसत्य होता, याने ग्राम नगर राजगण अथवा जाति कुल आदिक धर्मों का उपदेश करने वाला जो वचन है वह देशसत्य होता। कोई भावसत्य होता याने संयमी या सयंमासंयमी जीव अपनी गुणवृत्ति का परिपालन करते रहें, इसके लिए जो ऐसा कहा जाता, यह प्रासुक है। यह प्रासुक है ऐसा छद्मस्थ ज्ञान तो नहीं हो सकता कि यह प्रासुक ही है या यह अप्रासुक ही है? सूक्ष्म रीति से नहीं जान सकते। फिर भी जाना समझा जितना व्यवहार है और प्रयोग है, परिहार है उस माफिक कहना सो भावसत्य है, एक वचन है, समयसत्य याने द्रव्यपर्यायों का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप बतलाना सो समयसत्य है। इस तरह अनेक प्रकार की भाषाओं का सत्य जहाँ वर्णन हो वह सत्यप्रवाद पूर्व है। उवें पूर्व

का नाम है आत्मप्रवाद । इस पूर्व में आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिक धर्मों का युक्तिपूर्वक वर्णन है, याने आत्मा कर्ता है या नहीं ? है तो किसका कर्ता है ? नहीं है तो किस प्रकार ? ऐसे ही सभी धर्मों का युक्तिपूर्वक वर्णन है और इस ही पूर्व में समस्त जीवभाव का वर्णन है । ८वां पूर्व है कर्मप्रवाद । कर्मों के बंध, उदय, उपशम, निर्जरा ये परिणमन कैसे हैं, किस प्रकार होते हैं और उनके अनुभाग प्रदेश किस प्रकार होते हैं, स्थिति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट कहां किस तरह बनती हैं, किन-किन जीवों की कौन-कौनसी प्रकृतियों का बंध उदय आदिक है, आदिक वर्णन इस पूर्व में किया गया है । ९वें पूर्व का नाम है प्रत्याख्यानपूर्व व्रत, नियम, प्रतिक्रियण आदिक आचारों का, प्रायश्चित्त शुद्धि आदि का तथा नियम से यम से कुछ का सर्वथा द्रव्यों का त्याग का जहां वर्णन किया गया है वह प्रत्याख्यान बात पूर्व है । १०वां पूर्व है विद्यानुवाद । इसमें छोटी बड़ी सभी विद्याओं का वर्णन है और उन विद्याओं का विषयभूत क्षेत्र, श्रेणी, संस्थान, समुद्घात आदिक का वर्णन है । लघु विद्यायें होती हैं ७०० और रोहणी आदिक महाविद्यायें होती हैं ५०० । महानिमित्त जिससे कि भविष्य का भी ज्ञान कर लिया जाता है वे अनेक प्रकार के हैं । उनका वर्णन इस पूर्व में किया गया है ।

जैसे आकाश में कोई नक्षत्र आदिक देखना, स्वर सुनकर भविष्य जानना, स्वप्न देखकर जानना, शरीर पर मसा, तिल आदिक चिह्नों को देखकर जानना, यह सब वर्णन इस पूर्व में है तथा उन महानिमित्तों का विषय, क्षेत्र, लोक आदिक को इसमें वर्णन है । यह लोक तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक । इन सब लोकों का मध्य भाग है मेरुर्पर्वत की जड़ के नीचे ८ प्रदेश । वहाँ से विभाग होता है । जो नीचे है सो तो अधोलोक है और उस मेरुर्पर्वत की जड़ से लेकर शिखर पर्यन्त मध्यलोक है और उससे ऊपर ऊर्ध्वलोक कहलाता है । ऊर्ध्वलोक में स्वर्ग ग्रैवेयक अनुदिश, अनुत्तर आदिक विमानों की रचना है, जिसमें देव रहते हैं । उससे ऊपर सिद्धशिला है और उससे ऊपर, सिद्धलोक है, जो लोक के अंत में है । जहाँ सिद्धभगवान विराजे रहते हैं । मध्यलोक में अनेक द्वीप समुद्र आदिक रचनायें हैं । अधोलोक में प्रथम तो इस पृथ्वी के दो भागों में नीचे भवनवासी और कुछ व्यन्तरों का निवास है । उसके नीचे भाग में पहला नरक है, उससे नीचे ६ पृथ्वियां और हैं, दूसरे तीसरे आदिक नरक हैं । यह सब वर्णन इस सूत्र में किया गया है । जीवों के प्रदेश बस इस संसार में देह के बराबर है अर्थात् देह जितने तक फैला है वहाँ तक ही यह जीव फैला हुआ है पर कुछ कारण होते हैं ऐसे कि जो देह से बाहर भी आत्मा के प्रदेश हो जाते हैं, इसे कहते हैं समुद्घात । ये समुद्घात ७ प्रकार के होते हैं । किसी प्राणी को कोई कठिन रोगादिक हो जाये तो उस बैचैनी में वे प्रदेश बाहर होते हैं और कदाचित जहाँ कोई औषधि रखी हों वहाँ तक प्रदेश पहुंच सकें तो उसका सम्बंध इस जीव के आरोग्य का कारण भी बने जाता है । तो वेदनाकृत है यह समुद्घात । इसका नाम वेदनासमुद्घात है । किसी सामर्थ्य को किसी दूसरे के कारण कठिन क्रोध आ गया, इस समय कषाय समुद्घात होता है अर्थात् जीव के प्रदेश शरीर से कुछ बाहर हो जाते हैं । जब किसी जीव का मरणकाल होता है तो किसी-किसी के जिसको कि एक सीधी गति में जैसे नरक या कहीं सीधी गति में श्रेणी में कोई जन्मस्थान हो तो मरण से पहले वहाँ तक प्रदेश छू आते हैं और फिर वापिस होकर देह बराबर रहकर मरण हो जाता है । एक समुद्घात है तैजस समुद्घात

। यदि किसी पर दया आयी तैजसऋद्धि वाले को तो उसका भला हो जायेगा । दाहिने कंधे से तैजस शरीर निकलेगा और किसी का अगर दुर्भाग्य है और उस पर क्रोध आ गया तो बायें कंधे से तैजस शरीर निकलता है और सबको भस्म कर देता और खुद भी भस्म हो जाता है । विक्रियासमुद्घात में भी जीव के प्रदेश बाहर हो जाते हैं ।

जैसे देव कोई रूप धरना चाहता है, दूर जाना चाहता है, समवशरण में आ रहा है तो उनका मूल शरीर तो वही रहता है, पर विक्रिया का शरीर आया करता है । तो मूल शरीर में भी जीवप्रदेश हैं और रास्ते में सर्वत्र जीवप्रदेश हैं, तो यह उनका वैक्रियकसमुद्घात है । देव अपने शरीर से भिन्न अनेक रूप शरीर धारण कर सकते हैं । नारकी जीव अपने शरीर का कुछ से कुछ रूप बना ले, वे अनेक शरीर नहीं बना पाते । जिनकी जैसी योग्यता है उस योग्यतानुसार जो उत्तर शरीर बनता है वहाँ जीव के प्रदेश बाहर जाते हैं । वह वैक्रियकसमुद्घात है । एक होता है आहारकसमुद्घात । जिसके आहारकऋद्धि उत्पन्न होती है ऐसे महामुनि के कोई तत्त्व शंका हो या क्षेत्रबंदना का भाव हो तो उनके मस्तक से एक हाथ का शुक्र वर्ण का पुतला निकलता है और यह तीर्थकर के क्षेत्रबंदना आदिक करके, दर्शन करके वापिस आ जाता है । शंका उत्पन्न हुई हो तो सीधा तीर्थकर केवली के दर्शन को वह आहारक शरीर जाता है । दर्शन करते ही शंका दूर हो जाती है और फिर आहारक शरीर वापिस आ जाता है । एक समुद्घात है केवलीसमुद्घात । जब केवलीभगवान के वेदनीय नाम गोत्र ये तो रह जायें बहुत स्थिति में और आयु हो अल्प स्थिति की तो उस बड़ी स्थिति को आयु के बराबर करने के लिए बाहर प्रदेश निकलते हैं और पहले दंडाकार लोक के १४ राजू प्रमाण फैलते हैं, फिर कपाट के आकार अगल-बगल फैलते हैं, फिर प्रतराकार चारों तरफ हो जाते हैं, फिर जो वातवलय बचती है वहाँ प्रदेश फैल जाते हैं । फिर इसी विधि से संकुचित होता है और फिर शरीर में सर्व प्रवेश कर जाते । सभी समुद्घातों में मूल शरीर को प्रदेश बिल्कुल नहीं छोड़ते, किन्तु वहाँ रहते हुए फैला करते हैं । इस तरह इन समुद्घातों का वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्व में है । ये समुद्घात शरीर बाहर प्रदेश भर में होते हैं, पर आहारक समुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात ये एक दिशा में ही जाते हैं । मारणान्तिक समुद्घात भी अन्य क्षेत्रवर्ती जीवों के नहीं होता, इसलिए वे एक दिशा में गमन करते हैं । शेष ५ समुद्घात चारों तरफ फैलते हैं । इन समुद्घातों का समय संख्यात समय है, किन्तु केवलीसमुद्घात केवल ८ समय होता है । इसी विद्यानुवाद पूर्व में सपनों का भी वर्णन है । सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र की चाल से सही और विपरीत हल आदिक का ज्ञान हो, इस विषय का भी वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्व में है । तीर्थकरों के पंचकल्याणक आदिक का वर्णन है । ११ वां है प्राणानुवाद पूर्व । इसमें आयुर्वेद का वर्णन है । कैसी चिकित्सा है, आयुर्वेद के ८ अंग होते हैं । इन सबका इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है । क्रियाविशाल पूर्व में सब कलाओं का वर्णन है ।

जैसे ७२ कलायें, ६४ कलायें, शिल्पविद्या, काव्य, गुण, दोष, क्रिया, छंद रचना और इन सबके करने वालों के फल का सब कुछ व्याख्यान इस क्रियाविशालपूर्व में है । लोकबिन्दुसार में गणितों के और अनेक क्रियाओं के तीन विभाग बताये गए हैं । इस तरह १२ अंगों में नाना प्रकार के विषयों का वर्णन है, जिसके पारगामी बड़े ऋद्धिसम्पन्न मुनिराज होते हैं । इस अंग से अतिरिक्त याने इसके, ही अनुसार इसके विभाग बनाकर जो

आचार्य आदिक की ग्रन्थरचना है वह सब अंगबाह्य है। यहाँ श्रुतज्ञान से मतलब आगमज्ञान और मतिज्ञान के अनन्तर होने वाले अन्य भी अर्थान्तर के ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं। अनुमान, उपमान अर्थापत्ति आदिक का भी अन्तर्भाव इस श्रुतज्ञान में हो जाता है। यह श्रुतज्ञान इस आत्मा के कल्याण का बीज है। श्रुतज्ञान के बल से ही सर्व तत्त्वों का निर्णय कर, फिर सबसे विविक्त अपने आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप की आराधना कर समाधिभाव को प्राप्त होता है। सर्वविकल्पों का परिहार कर एक चित्स्वरूप का ही आराधन रहता है। उस समाधि के बल से सर्व प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है, परमात्मा हो जाता है। तो यह श्रुतज्ञान पवित्र है। इसी कारण सरस्वती पूजा आदिक के रूप में इस श्रुत की उपासना की प्रेरणा दी गई है। यहां तक वस्तुस्वरूप के जानने के उपायों के प्रसंग में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का वर्णन किया। अब परोक्षज्ञान के वर्णन के बाद प्रत्यक्षज्ञान का वर्णन आयेगा, और जिसमें सर्वप्रथम अवधिज्ञान का वर्णन चलेगा।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥